

बी.ए.(प्रोग्राम)

सेमेस्टर-I

संस्कृत

DISCIPLINE SPECIFIC CORE COURSE

SANSKRIT POETRY

नीतिशतकम् : 1-20 श्लोक पर्यन्त

अध्ययन सामग्री : अन्विति V



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत-विभाग

सम्पादिका : डॉ. रमा जैन

स्नातक पाठ्यक्रम

DSC : SANSKRIT POETRY

नीतिशतकम् : 1-20 श्लोक पर्यन्त

अध्ययन सामग्री : अन्विति V

वृत्त

i kB 1- गीतिकाव्य एवं भर्तृहरि विरचित नीतिशतकम्

i kB 2- नीतिशतकम् (पद्य संख्या 1-15) : मूल पाठ, अनुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणियाँ

i kB 3- नीतिशतकम् (पद्य संख्या 16-21) : मूल पाठ, अनुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणियाँ

सम्पादिका
MKW jek tsu

लेखिका
MKW dkUrK
तदर्थ प्रवक्त्री, संस्कृत-विभाग
मुक्त शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

गीतिकाव्य एवं भर्तृहरि विरचित नीतिशतकम्

गीतिकाव्य-

संस्कृत भाषा के विपुल साहित्य में उपलब्ध समस्त विधाओं में गीतिकाव्य (Lyric Poetry) अत्यन्त रमणीय विधा है। गीत या गीति का अर्थ सामान्यतया साज-शृङ्गार अथवा गायन-वादन ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु यहाँ गीति से तात्पर्य अन्तरात्मा के भावों की अभिव्यक्ति से है। जिसमें गेयात्मकता व संगीतात्मकता का सम्मिश्रण होता है। शास्त्रीय दृष्टि से गीतिकाव्य को ही खण्डकाव्य कहा जाता है, चूँकि इसमें महाकाव्य के समस्त लक्षण घटित नहीं होते हैं। प्रथमतया गीतिकाव्य अथवा खण्डकाव्य आकार में महाकाव्य से छोटा होता है, इसमें कवित्व के साथ-साथ संगीत अथवा लयात्मकता भी होती है अर्थात् जहाँ भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों की प्रधानता होती है। दूसरा, इसमें मानव-जीवन के किसी एक मार्मिक पक्ष अथवा भाव यथा प्रेम, भक्ति, विरह, नीति, शोक, वैराग्य, प्रकृति वर्णन एवं देवस्तुति आदि को केन्द्रित करके उसे गेय बनाकर संक्षिप्त रूप में प्रकट किया जाता है—“**खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।**”

गीतिकाव्य वह काव्य-प्रकार है, जिसमें हृदय में स्थित कोमल भावों एवं संवेगों का स्वतः स्फुरण होता है। इन भावों का परस्पर मेल भी अपेक्षित नहीं होता अर्थात् शोक में शृङ्गार का अथवा शृङ्गार में शोक का मिश्रण पूर्णतः असंगत माना जाता है। इसलिए गीतिकाव्य में जीवन के किसी एक पक्ष या भाव को केन्द्रित करके ही वर्णन किया जाता है। गीतिकाव्य में जहाँ संक्षिप्तता का प्रमुख स्थान है, वहीं गेयात्मकता का भी वैशिष्ट्य है। चूँकि किसी भी एक भाव को यदि विस्तार से वर्णित किया जाएगा, वहाँ नीरसता आना स्वाभाविक है। इसलिए गीतिकाव्य में किसी भी एक विषय को संगीतमय रागों या छन्दों के माध्यम से संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। अतः संक्षेप में ‘गीतिकाव्य’ का यह लक्षण दिया जा सकता है—

भावानामात्मनिष्ठानां कल्पनावलितं लघु।

स्फुरणं गेयरूपेण गीतिकाव्यं निगद्यते॥

गीतिकाव्य का उद्भव और विकास- गीतिकाव्य का उद्भव अन्य साहित्यिक विधाओं के समान ही वेद की ऋचाओं से माना गया है। ऋग्वैदिक ऋचाओं में वर्णित अग्नि, इन्द्र, उषस्, सविता, वरुण, पृथ्वी आदि विविध देवी-देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्र एवं सामवेद का संगीत-पक्ष, साथ ही अथर्ववेद में भूमि की स्तुति में उत्कृष्ट गीतिकाव्य का विन्यास है। अथर्वा ऋषि ने 63 मन्त्रों के माध्यम से पृथ्वी देवी के प्रति

कृतज्ञता की अभिव्यक्ति की है (अथर्ववेद) (12/1) – ये सभी संस्कृत गीतिकाव्य के उद्भव हेतु सुदृढ़ आधारशिला प्रदान करते हैं।

लौकिक साहित्य की दृष्टि से गीतिकाव्य के लक्षण वाल्मीकि-रामायण, महाभारत आदि में वर्णित राम एवं श्रीकृष्ण की स्तुतियों में दृष्टिगत होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण के विराट् रूप का वर्णन भी उत्तम गीतिकाव्य अथवा स्तोत्रकाव्य के रूप में स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त पुराणों में विष्णु, नारद, भागवत आदि विविध देवों की स्तुतियाँ गीतिकाव्य को ही निर्दिष्ट करती हैं। किन्तु गीतिकाव्य का परिष्कृत रूप महाकवि कालिदास द्वारा रचित मेघदूत तथा ऋतुसंहार में ही परिलक्षित होता है। गीतिकाव्य-परम्परा को पोषित करने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में सातवाहनवंशीय राजा 'हाल' द्वारा रचित 'गाथा-सप्तशती', 22 पद्यों में निबद्ध घटकपर्ककाव्य, भर्तृहरि-विरचित 'शतकत्रय', अमरुक का 'अमरुकशतक', बिल्हणकृत 'चौरपञ्चाशिका', महाकवि जयदेव-विरचित 'गीतगोविन्द', गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती तथा पण्डितराज जगन्नाथ का भामिनीविलास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक स्तोत्रग्रन्थ भी इसी समृद्ध परम्परा के वाहक हैं।

विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से गीतिकाव्य को दो श्रेणियों में बाँटा गया है— प्रबन्ध तथा मुक्तक। प्रबन्ध गीतिकाव्य में किसी एक घटना का क्रमबद्ध विवेचन होता है तथा वर्ण्य-विषय की दृष्टि से प्रत्येक श्लोक एक-दूसरे पर निर्भर करता है। महाकवि कालिदास द्वारा रचित 'मेघदूत' सुप्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट प्रबन्ध गीतिकाव्य है। जबकि मुक्तक-काव्य से तात्पर्य उन छन्दोबद्ध रचनाओं से है, जिनमें प्रत्येक पद्य (श्लोक) स्वतन्त्र रूप से अपने अर्थ-प्रकाशन में समर्थ होता है। ऐसे पद्यों में पूर्वापर प्रसङ्ग की आवश्यकता नहीं होती। अग्निपुराण (337/36) में भी यही प्रतिपादित है—

“मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।”

महाकवि भर्तृहरि-विरचित शृङ्गारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशतक मुक्तक-काव्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। वस्तुतः यहाँ 'नीतिशतकम्' प्रधान विवेच्य विषय है, अतः इस ग्रन्थ के विवेचन से पूर्व इसके रचनाकर्ता महाकवि भर्तृहरि के विषय में जानना अपेक्षित है—

भर्तृहरि : समय एवं जीवनवृत्त-

गीतिकाव्य परम्परा में मुक्तक-काव्य के सृजनकर्ता, कुशल राजा, वैयाकरण एवं कवि के रूप में प्रसिद्ध भर्तृहरि के समय तथा जीवनवृत्त के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं— प्रसिद्ध जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि मालवा प्रदेश के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे और विक्रम संवत् के संस्थापक विक्रमादित्य (57 ई.पू.) के अग्रज भी। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद हैं। एक अन्य मतानुसार भर्तृहरि हूणों को पराजित करने वाले राजा विक्रमादित्य (644 ई.) के भाई भी बताए जाते हैं।

चीनी यात्री इत्सिंग के मतानुसार 641 ई. में भर्तृहरि नामक वैयाकरण का देहान्त हुआ। यही भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' एवं 'महाभाष्यदीपिका' जैसे उत्कृष्ट व्याकरण-ग्रन्थों के रचयिता भी माने गए हैं। इत्सिंग ने यह भी उल्लेख किया है कि भर्तृहरि नामक व्यक्ति सांसारिक जीवन से विरक्त होकर कई बार गृहत्याग करके पुनः गृहस्थी बने और अन्त में 'बौद्ध धर्म' को अपनाया। यद्यपि भर्तृहरि-कृत शतकत्रय और वाक्यपदीय के मङ्गलाचरण का विमर्श करने पर वे शैव या अद्वैत वेदान्ती सिद्ध होते हैं, तथापि इत्सिंग द्वारा उल्लिखित भर्तृहरि के गृहत्याग एवं पुनः गृहस्थाश्रम-प्रवेश की कथा आज भी प्रचलित है और शतकत्रय के अध्ययन से भी विदित होती है। डॉ. कीथ¹ ने भी उपर्युक्त इसी भर्तृहरि को शतकत्रय एवं वाक्यपदीय का प्रणेता स्वीकार करते हुए इनका समय 640 ई. के निकट माना है।

इसके अतिरिक्त विष्णुशर्मा-कृत 'पञ्चतन्त्र' में भी भर्तृहरि द्वारा रचित पद्य उपलब्ध होते हैं। पञ्चतन्त्र का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों द्वारा 300 ई. के पश्चात् तथा 600 ई. से पूर्व निर्धारित किया गया है। तदनुसार भर्तृहरि का समय छठी शताब्दी से भी पहले का ही सिद्ध होता है। अतः भर्तृहरि के कालविषयक विविध मतों के परिणामस्वरूप उनका समय 300 ई. से 600 ई. के मध्य माना जा सकता है।

भर्तृहरि के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने वाली एक प्रसिद्ध किंवदन्ती से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि का जन्म किसी राजवंश में हुआ था। विक्रमादित्य उनके सौतेले भाई थे। उनकी पिङ्गला नामक रूपवती पत्नी थी। कहा जाता है कि भर्तृहरि रानी पिङ्गला पर बहुत अधिक मोहित थे। एक बार एक ब्राह्मण योगी भर्तृहरि को ऐसा फल देते हैं, जिसे खाने से चिरयौवन एवं अमरत्व की प्राप्ति होती है। किन्तु भर्तृहरि ने वह फल स्वयं न खाकर अपनी प्राणप्रिया पत्नी को दे दिया, जिससे वह चिरकाल तक यौवना बनी रहे और अमरत्व प्राप्त करे। रानी पिङ्गला राज्य के किसी अन्य पुरुष से गुप्त प्रेम करती थी, अतः उसने वह फल उस पुरुष को दे दिया और वह पुरुष नगर की एक रूपवती वेश्या में आसक्त होने के कारण उसे वह फल भेंटस्वरूप दे देता है। लेकिन नगर की वह गणिका (वेश्या) स्वयं भर्तृहरि के गुणों पर मोहित थी। फलतः वह राजा भर्तृहरि के चिरयौवन और अमरत्व की कामना करती हुई वह विशिष्ट फल उन्हें अर्पित करती है। पुनः वही फल वेश्या द्वारा पाकर भर्तृहरि को परम आश्चर्य हुआ और अन्ततः सम्पूर्ण रहस्य उन्हें स्पष्ट हो गया।

इस सम्पूर्ण घटनाक्रम से विशेषरूप से रानी पिङ्गला की दुश्चरित्रता से भर्तृहरि अत्यन्त दुःखी हुए और वे वैराग्ययुक्त होकर राज्य का त्याग कर वन की ओर प्रवृत्त हुए। नीतिशतक के कुछ संस्करणों में उपलब्ध प्रस्तुत श्लोक उक्त घटना की सत्यता को पुष्ट करता है—

1. डॉ. कीथ – संस्कृत साहित्य का इतिहास; पृ. 215

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च।।

—नीतिशतक; 02

भर्तृहरि : शतकत्रय—

मुक्तक-काव्य के सन्दर्भ में महाकवि भर्तृहरि की तीन रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—शृङ्गारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक। तीनों में सौ-सौ पद्य हैं, इसलिए इन्हें 'शतकत्रय' कहा जाता है। जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **शृङ्गारशतक**— शृङ्गारशतक में कवि ने अत्यन्त कोमल शैली में स्त्रियों के मनमोहक एवं आकर्षक सौन्दर्य, उनकी विविध चेष्टाओं के प्रति पुरुष-हृदय का आकर्षण, युवावस्था में काम की प्रबलता आदि विषयों का चित्रण किया है। किन्तु भर्तृहरि धीरे-धीरे शृङ्गार रस से उत्पन्न आकर्षण की क्षणभंगुरता एवं निस्सारता को चित्रित करते हुए अन्ततः मनुष्य को विकर्षण अथवा शान्तरस की ओर प्रवृत्त कराते हैं। कवि ने स्पष्ट शब्दों में उक्त भावों का चित्रण इस श्लोक में किया है—

कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्रुराशया नेष्यते।
संसारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम्॥

—शृङ्गारशतक; 51

इस प्रकार शृङ्गारशतक का नाम शृङ्गारपरक होने पर भी कवि भर्तृहरि जहाँ पहले स्त्रियों के प्रति आकर्षण का वर्णन करते हैं, वहीं अन्त में पाठक को वैराग्य की ओर उन्मुख करते हैं।

2. **नीतिशतक**— नीतिशतक में नीति एवं सदाचार से सम्बद्ध सौ श्लोक हैं, जो मानव के व्यावहारिक जीवन हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रकृत ग्रन्थ में कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध, विद्या, परोपकार, सत्सङ्गति, साहस, मैत्री, मूर्ख-निन्दा, विद्वत्प्रशंसा आदि मानव की उदार मनोवृत्तियों का सरल भाषा में प्रतिपादन किया गया है। साथ ही इन नैतिक-सिद्धान्तों को व्यक्तिगत जीवन में ग्रहण करने की सद्प्रेरणा भी दी गई है। कवि भर्तृहरि कर्म की प्रधानता को बताते हुए आलस्य को त्यागकर निरन्तर परिश्रमपूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति॥

—नीतिशतक; 87

वस्तुतः नीतिशतक में प्रतिपादित प्रत्येक उपदेश सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक है, जो प्राणीमात्र के लिए संजीवनी-भूत है।

3. **वैराग्यशतक-** वैराग्यशतक में कवि ने सम्पूर्ण विश्व को क्षणभङ्गुर तथा भयभीत हुआ दिखाया है। इस गीतिकाव्य में महाकवि भर्तृहरि ने भक्ति एवं वैराग्य को ही मानव जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ का साधन बताया है। तीनों शतकों में वैराग्यशतक इनकी सर्वोत्तम कृति है। इसमें आशा-तृष्णा की प्रबलता, यौवन की अस्थिरता, भोग-विलास का त्याग, संसार की विषमता एवं निस्सारता का मार्मिक चित्रण करते हुए मानव-मात्र को वैराग्ययुक्त तपस्वी जीवन की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है। यथा कवि ने मनुष्य को यह उपदेश दिया है कि-

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्यापुनस्तादृशी।

निश्चिन्तं सुखसाध्यभैक्ष्यमशतं शय्या श्मशाने वने॥

मित्रामित्रं समानताऽतिविमला चिन्ताऽथशून्यालये।

ध्वस्ताशेषमदप्रमादमुदितो योगी सुखं तिष्ठति॥

भर्तृहरि की काव्यकला अनुपम है। इनकी रचनाओं में प्रायः दीर्घ समासों का अभाव है। कम-से-कम शब्दों में अधिकाधिक भावों को प्रस्तुत करने में कवि सिद्धहस्त हैं अर्थात् जो कुछ वे लिखते हैं, वह अपने-आप में पूर्ण होता है। जैसे कवि ने मूर्ख व्यक्ति विषयक एक ही पंक्ति में सब कुछ कह दिया-

“सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।”

अपण्डितों की शोभाविषयक श्लोक को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे किसी कोश की पंक्ति हो-“विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।” इनकी भाषा-शैली सहज, सरल तथा प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से युक्त है। महाकवि ने जीवन के सभी पक्षों को अत्यन्त निकट से देखा अथवा अनुभव किया है, ऐसा जान पड़ता है। इसलिए भर्तृहरि के काव्य में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष की प्रधानता दृष्टिगत होती है। निष्कर्षतः जीवन के विविध पक्षों का मार्मिक चित्रण करते हुए अन्ततः वैराग्य की ओर पाठक को उन्मुख करने का उनका प्रधान उद्देश्य परिलक्षित होता है।

चूँकि भर्तृहरिकृत ‘नीतिशतक’ यहाँ प्रधान विवेच्य विषय है, अतः तत्सम्बद्ध विस्तृत विवेचन अपेक्षित है-

नीतिशतक-

‘नी नये’ वा ‘नी प्रापणे’ धातु में ‘क्तिन्’ प्रत्यय जोड़ने पर ‘नीति’ शब्द निष्पन्न होता है, जो सामान्यतः आचरण, निर्देशन, उपाय, व्यवहारकुशलता¹ और राजनीतिज्ञता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।² किन्तु नीतिशतक के सन्दर्भ में ‘नीति’ से तात्पर्य नैतिक कुशलता अथवा लोकव्यवहारगत कुशलता ही है, न कि राजनीति या अर्थनीतिगत कुशलता। संस्कृत साहित्य में नीतिपरक काव्यों के प्रणयन की सुदीर्घ परम्परा रही है। यथा— चाणक्यनीति, नीतिसार, नीतिरत्न, नीति-मञ्जरी, विदुरनीति और नीतिद्विषष्टिका आदि अनेक सुभाषितसंग्रह उपलब्ध होते हैं। समस्त नीतिकाव्यों में भर्तृहरिकृत ‘नीतिशतक’ सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

‘नीतिशतक’ में प्रतिपादित सभी नैतिक सिद्धान्त किसी जाति, वर्ग एवं सम्प्रदाय विशेष के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवजाति के लिए अत्युत्तम औषधि हैं। प्रत्येक उपदेश व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले लोकव्यवहार के निर्धारण में उत्तम मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। वस्तुतः मम्मटाचार्य द्वारा प्रतिपादित ‘व्यवहारविदे’ काव्यप्रयोजन का ही अनुमोदन सही अर्थों में ‘नीतिशतक’ ग्रन्थ करता है।

नीतिशतक में वर्ण्य-विषय— नीतिशतक में व्यावहारिक जीवन की सम-विषम परिस्थितियों का विभिन्न पद्धतियों द्वारा विवेचन किया गया है। यथा— 1. मूर्खपद्धति, 2. विद्वत्पद्धति, 3. मानशौर्यपद्धति, 4. अर्थ-पद्धति, 5. दुर्जन-निन्दा-पद्धति, 6. सज्जन-प्रशंसा-पद्धति, 7. परोपकार-पद्धति, 8. धैर्य-पद्धति, 9. दैव-पद्धति तथा 10. कर्मपद्धति। इन सभी पद्धतियों में भर्तृहरि ने विद्या, मान, वीरता, तप, त्याग, स्वाभिमान, परोपकार, भाग्य एवं पुरुषार्थ आदि सभी मनोभावों का प्रभावपूर्ण चित्रण किया है।

यथा नीतिशतक में अल्पज्ञानी मूर्ख व्यक्ति की हठधर्मिता का वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसी कोटि के व्यक्ति का समाधान स्वयं ब्रह्मा के पास भी नहीं है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति॥

—नीतिशतक; 03

सज्जन एवं महापुरुषों के सद्गुणों का विवेचन स्पष्टतः सदाचरण की ओर प्रेरित करता ही है। यथा—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥

—नीतिशतक; 53

1. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः।

—रघुवंशम्, 12/69, कु.स.(1/22, नैषध.(5/103

2. आपटे, वामन शिवराम - संस्कृत-हिन्दी कोश, चौ. विद्याभवन, वाराणसी, प. संस्करण 2012, पृ. 550

मधुरवाणी मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आभूषण है। अन्य कृत्रिम आभूषण तो समय बीतने पर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु मधुरवाणी रूपी आभूषण नित्य, स्थायी आभूषण है। स्वयं भर्तृहरि के शब्दों में—

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

—नीतिशतक; 20

इस प्रकार नीतिशतक में प्रत्येक विषय को कवि ने उपदेशात्मक शैली में बड़े ही सहज ढंग से निरूपित किया है, जो भर्तृहरि के मानवतावादी दृष्टिकोण को दर्शाता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण 'नीतिशतक' ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय एवं विश्वव्यापी बन गया।

नीतिशतक का काव्य-वैशिष्ट्य—

नीतिशतक में सर्वत्र सरल भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है। भर्तृहरि ने प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। इसलिए प्रत्येक पद्य अपने वास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त करता हुआ अत्यन्त स्वाभाविक और प्रासङ्गिक बन पड़ा है। यथा मूर्ख व्यक्ति के सम्पर्क मात्र को पापदायक बताते हुए कवि कहते हैं—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥

—नीतिशतक; 15

प्रस्तुत श्लोक में लघु-लघु समासों के प्रयोग से शब्दयोजना इतनी सरल बन गई है कि पाठकगण को शीघ्र ही अर्थ समझ आ जाता है। इसके अतिरिक्त कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों को सरलतापूर्वक प्रस्तुत करना भर्तृहरि की अन्यतम विशेषता है। उदाहरण के लिए विद्या के विविध गुणों की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

—नीतिशतक; 17

नीतिशतक में सर्वाधिक शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य छन्दों यथा अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, आर्या, उपजाति, पृथ्वी, शिखरिणी, वंशस्थ और स्रग्धरा आदि का भी प्रयोग किया गया है। वसन्ततिलका छन्द का भी अनेकशः प्रयोग किया गया है। यथा सत्संगतिविषयक निम्न पद्य में वसन्ततिलका छन्द का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिं कथय किं न करोति पुंसाम्॥

अर्थात् सत्संगति अथवा सज्जन पुरुषों की संगति हर प्रकार से मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है।

अलंकारप्रयोग में कवि ने कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं किया है। नीतिशतक की सूक्तियों में विशेषतः उपमा, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, समुच्चय, दृष्टान्त, परिसंख्या, स्वाभावोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तरन्यास आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः नीतिशतक में अलंकारों का बहुत ही स्वाभाविक प्रयोग दिखाई देता है। यथा

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गणेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥

—नीतिशतक; 37

प्रस्तुत श्लोक का प्रत्येक शब्द कानों में एक प्रकार की झंकार को उत्पन्न करता हुआ प्रतीत होता है।

निष्कर्षतः 'नीतिशतक' के सभी पद्यों में जीवन जीने की कला के सूत्र पिरोए गए हैं, जिनको ग्रहणकर मनुष्य इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख की प्राप्ति करता है।

नीतिशतकम् : मूल पाठ, अनुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणियाँ

दिवकालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥1॥

अन्वय- दिवकालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये स्वानुभूत्येकमानाय शान्ताय तेजसे नमः।

प्रसङ्ग- नीतिशतक के इस प्रथम श्लोक में मङ्गलाचरण का निर्वहन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

हिन्दी अनुवाद- दश दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि) और काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) आदि से जो अपरिमित, अनन्त और ज्ञानस्वरूप है, (जो) अपने ही अनुभव से जानने योग्य है, उस शान्तस्वभाव वाले तेजमय परब्रह्म को नमस्कार है।

व्याख्या- प्रस्तुत श्लोक में महाकवि भर्तृहरि मङ्गलाचरण के रूप में परमात्मा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिस परमब्रह्म को देश- कालादि की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता अर्थात् जिसकी सत्ता ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान हैं, जिसका न आदि न अन्त है। वह सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप- चैतन्यरूप है, जिसका बोध केवल आत्मानुभव से ही हो सकता है। ऐसे शान्तमय, सर्वप्रकाशक- ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है। वस्तुतः काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण श्रेयस्कर होता है। मङ्गलाचरण तीन प्रकार का होता है-आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक। प्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य दण्डी के शब्दों में-"आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखं"। अतः नीतिशतक के इस प्रथम श्लोक में नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण का निर्वहन किया गया है।

- इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है, जिसका लक्षण है- श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।

द्विःचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अर्थात् अनुष्टुप् छन्द में प्रत्येक चरण का छठा वर्ण गुरु होता है तथा पञ्चम वर्ण सर्वत्र लघु होता है, द्वितीय तथा चतुर्थ चरण का सप्तम वर्ण ह्रस्व होता है तथा प्रथम एवं तृतीय चरण का सप्तम वर्ण दीर्घ होता है।

- इस श्लोक में परब्रह्म की स्वाभाविक क्रिया एवं रूप का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है, लक्षण है- "स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।"

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्न— दिक्-काल का अर्थ अनुवाद और व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ 'आदि' पद से अभिप्राय घट-पट, शरीर आदि समस्त उत्पन्न पदार्थ एवं आकाशादि पदार्थों के ग्रहण से है अर्थात् 'ब्रह्म' इन सभी परिमाणों से मापा नहीं जा सकता है। उसकी सत्ता व्यापक वा अपरिमित है। तैत्तिरीयोपनिषद् का यह वाक्य इस विषय में प्रमाण है— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"।

स्वानुभूत्येकमानाय— इस पद का सामान्य अर्थ है— आत्म-अनुभव मात्र से प्रत्यक्ष करने योग्य अर्थात् निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार मन, वाणी अथवा चक्षु इन्द्रिय से नहीं हो सकता, वह केवल स्वयं अनुभूति का विषय है। वह स्वतः प्रकाशित है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	कालाद्यनवच्छिन्न	-	कालादि + अनवच्छिन्न
	अनवच्छिन्नानन्त	-	अनवच्छिन्न + अनन्त
	स्वानुभूत्येकमानाय	-	स्वानुभूति + एकमानाय
	चिन्मात्र	-	चित् + मात्र

कारक— दिक्काल०—'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषट्योगाच्च' सूत्र से 'नमः' पद के योग में ब्रह्म के सभी विशेषणों यथा दिक्काल., स्वानुभूत्येकमानाय, शान्ताय, तेजसे— इन सभी पदों में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥२॥

अन्वय— (अहं) यां सततं चिन्तयामि, सा मयि विरक्ता। सा अपि अन्यं जनम् इच्छति, सः जनः अन्यसक्तः। अस्मत्कृते च काचिद् अन्या परितुष्यति। तां च तं च मदनं च इमां च मां च धिक्।

प्रसङ्ग— इस श्लोक में नीतिकार स्वजीवन में घटित घटनाविशेष जिसने उन्हें वैराग्य की ओर प्रेरित किया, का वर्णन करते हुए कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— (मैं) जिस (स्त्री) का निरन्तर चिन्तन करता हूँ, वह मुझसे विरक्त है, वह भी किसी दूसरे पुरुष को चाहती है। वह पुरुष अन्य (किसी स्त्री) के प्रति आसक्त है और मेरे लिए कोई अन्य स्त्री व्याकुल है। उस स्त्री को, उस पुरुष को, कामदेव को, इस स्त्री को और मुझको धिक्कार है।

व्याख्या— प्रस्तुत श्लोक में 'कामवासना' से उत्पन्न प्रेम की अस्थिरता का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि जिस अपनी प्राणप्रिया पत्नी से मैं अत्यधिक प्रेम करता हूँ, वह मुझसे प्रेम न करके किसी अन्य पुरुष में अनुरक्त है। किन्तु वह पुरुष जिसे मेरी प्रियतमा चाहती है, वह किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है और "विचित्रा हि दैवगतिः" वह स्त्री स्वयं मेरे प्रति अनुराग रखती है। अतः इन्द्रिय सुख के वशीभूत मानवमन की ऐसी दशा देखकर कवि इसकी घोर निन्दा करते हुए अपनी प्रियतमा, उस पुरुष, कामदेव, अपने प्रति आसक्त स्त्री को और स्वयं को भी धिक्कारते हैं। यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग सांसारिक-निस्सारता को प्रदर्शित करता है। प्रस्तुत श्लोकविषयक एक किंवदन्ती भी लोकप्रसिद्ध है—

कहा जाता है कि एक बार किसी योगी-ब्राह्मण ने भर्तृहरि को एक ऐसा फल उपहार में दिया, जिसे खाने से व्यक्ति चिरयौवन एवं अमरत्व को प्राप्त करता है। भर्तृहरि ने उसे अपनी प्रिय पत्नी को दे दिया। उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती थी अतः उसने अपने प्रेमी को वह फल भेंट कर दिया। वह पुरुष किसी वेश्या पर अनुरक्त था, अतः उसने वह फल स्वयं न खाकर उस वेश्या को दे दिया। किन्तु वह वेश्या स्वयं राजा भर्तृहरि पर अत्यन्त मोहित थीं, अतः वह राजा के चिरयौवनत्व और अमरत्व की इच्छा करती हुई उन्हें वह फल उपहारस्वरूप दे देती है। अब राजा उस फल को देखकर आश्चर्यचकित होते हैं और शीघ्र ही उन्हें सारे रहस्य का पता चल जाता है। किन्तु इस समस्त घटनाक्रम से भर्तृहरि इतने विक्षिप्त होते हैं कि उन्हें सांसारिक मोह-माया से वैराग्य हो जाता है, फलतः वे वैराग्ययुक्त होकर वन की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

- इस श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द है। इसमें क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण तथा दो गुरु— इन वर्णों की आवृत्ति होती है। लक्षण है—**उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।**
- इस पद्य में **अनुप्रास** अलंकार प्रयुक्त हुआ है। लक्षण है— "**वर्णसाम्यमनुप्रासः।**" प्रस्तुत पद्य के अंतिम चरण में 'त', 'च' तथा 'म' वर्णों की बार-बार आवृत्ति होने के कारण **वृत्यानुप्रास** है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

विरक्ता— वि उपसर्ग + √रञ्ज् + क्त प्रत्यय + टाप् प्रत्यय जोड़ने पर विरक्ता पद निष्पन्न होता है। विरक्ता का अर्थ है— अनुराग, प्रेम से विरत वा रहित स्त्री।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— साप्यन्यमिच्छति = सा + अपि + अन्यम् + इच्छति
जनोऽन्यसक्तः = जनः + अन्यसक्तः
काचिदन्या = काचित् + अन्या

कारक- सततम् = निरन्तरम्। यहाँ 'क्रियाविशेषणे द्वितीया' द्वारा सततम् में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

तां च तं च मदनं च इमां च मां च = यहाँ 'धिगुपर्यादिषु त्रिषु' सूत्र से 'धिक्' शब्द के योग में ताम्, तम्, मदनम्, इमाम् तथा माम् शब्दों में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

मूर्ख-पद्धति

'नीतिशतक' ग्रन्थ में विविध लौकिक विषयों से सम्बद्ध श्लोक हैं, जिन्हें विषय प्रतिपादन की दृष्टि से भिन्न-भिन्न पद्धतियों में बाँटा गया है। यहाँ सर्वप्रथम "मूर्ख-पद्धति" का वर्णन किया जा रहा है।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।

अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥३॥

अन्वय- बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः, अन्ये च अबोधोपहताः, सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम्।

प्रसङ्ग- प्रस्तुत पद्य में सुभाषित वचनों के प्रति सामाजिक जनों की उदासीनता पर प्रकाश डालते हुए कवि कहते हैं-

हिन्दी अनुवाद- बुद्धिमान् व्यक्ति ईर्ष्या से युक्त हैं, राजा आदि ऐश्वर्यसम्पन्न व्यक्ति अहंकार से ग्रस्त हैं तथा शेष अन्य जन अज्ञान से युक्त हैं। अतः सुभाषित अथवा सुन्दरवचन शरीर में ही नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या- कवि ने सामाजिकों की तीन श्रेणियाँ बताई हैं- (1) विद्वान् अर्थात् विषय को जानने-समझने वाले शिक्षित व बुद्धिमान् व्यक्ति, (2) धनवान्, (3) अज्ञानी। विद्वान् व्यक्ति परस्पर ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त होते हैं, अतः वे प्रायः किसी दूसरे व्यक्ति से सुनना अथवा सुने हुए पर आचरण करना अपनी विद्वत्ता का अपमान समझते हैं। दूसरे सामर्थ्यवान् वा धनवान् व्यक्ति धन और बल के अहंकार में डूबे होने के कारण सुभाषित सुनना नहीं चाहते हैं। इसके अतिरिक्त जो अज्ञानी या मूर्ख व्यक्ति हैं, वे अज्ञान के अंधकार से ग्रस्त हैं। ऐसे व्यक्ति चाहकर भी विषयों को समझ नहीं पाते, फलतः अभिव्यक्ति का अवसर न मिलने के कारण समस्त सदुक्तियाँ विद्वान् जनों के हृदय में ही नष्ट हो जाती हैं।

- इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है तथा सामाजिकों द्वारा सुभाषित वचनों को ग्रहण न करने के कारणों का अर्थात् कार्य-कारण का वर्णन होने से काव्यलिङ्ग अलंकार प्रयुक्त हुआ है। जिसका लक्षण है-
"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्।"

व्याख्यात्मक टिप्पणी :-

बोद्धारः - विज्ञातारः अर्थात् विज्ञान, जो विषयों को जानने व समझने में समर्थ होते हैं। बुद्धिमान्, विद्वान् व्यक्ति इसी श्रेणी में आते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	बोद्धारोमत्सरग्रस्ताः	=	बोद्धारः + मत्सरग्रस्ताः
	अबोधोपहताः	=	अबोध + उपहताः
	चान्ये	=	च + अन्ये
	जीर्णमङ्गे	=	जीर्णम् + अङ्गे

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति॥४॥

अन्वय— अज्ञः सुखम् आराध्यः विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते, ज्ञानलवदुर्विदग्धं तं नरं ब्रह्मा अपि न रञ्जयति।

प्रसङ्ग— इस श्लोक में अल्पज्ञानी व्यक्ति की हठधर्मिता पर प्रकाश डालते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— अज्ञानी (मूर्ख) व्यक्ति सरलता से समझाने योग्य है। विशेष ज्ञानसम्पन्न (विद्वान्) व्यक्ति को तो और भी सरलता से समझाया जा सकता है। परन्तु थोड़े से ज्ञान वाला व्यक्ति स्वयं को परम् विद्वान् मानने लगे तो ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते।

व्याख्या— कवि के अनुसार ज्ञान की दृष्टि से तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं— अज्ञानी, विशेषज्ञ तथा अल्पज्ञानी। इनमें अज्ञानी व्यक्ति को उदाहरण आदि के द्वारा सरल विधि से कोई विषय समझाया जा सकता है। दूसरे विद्वान् वा विशेषज्ञ व्यक्ति, जिनकी बुद्धि अनेक विद्याध्ययनों से तीक्ष्ण हो चुकी है, उनको भी सरलतापूर्वक उपदेश दिया जा सकता है। किन्तु अल्पज्ञानी व्यक्ति, जो अहंकारवश स्वयं को विद्वान् मानने लगे तो ऐसे व्यक्ति को समझाना असम्भवप्राय ही है। यदि स्वयं ब्रह्मा भी उसको समझाना चाहें तो यह सर्वथा असम्भव कार्य ही होगा।

● इस श्लोक में आर्या छन्द है, लक्षण है— यस्याः पादे प्रथम द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥

अर्थात् जिसके प्रथम तथा तृतीय चरण में बारह, द्वितीय चरण में अठारह तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, वह आर्या छन्द होता है।

● इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है, लक्षण है— “सिद्धत्वेऽध्यवसायस्य अतिशयोक्तिः निगद्यते।”

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

अज्ञः — अज्ञ का अर्थ है—अज्ञानी या नितान्त मूढ़ व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति जिसे किसी भी विषय का ज्ञान न हो।

विशेषज्ञः – विशेषं जानातीति विशेषज्ञः अर्थात् विशिष्ट ज्ञान को जानने-समझने वाला विद्वान् अथवा बुद्धिमान् व्यक्ति।

ज्ञानलवदुर्विदग्धम् – ज्ञानलवेन दुर्विदग्धम् अर्थात् थोड़े से ज्ञान के प्रभाव से अहंकारयुक्त व्यक्ति अथवा ऐसा व्यक्ति जो लेशमात्र ज्ञान से ही स्वयं को विद्वान् समझने लगे।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— सुखमाराध्यः = सुखम् + आराध्यः
ब्रह्माऽपि = ब्रह्मा + अपि

कारक— सुखतरम्— यह शब्द क्रिया के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अतः क्रियाविशेषण होने के कारण यहाँ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

**प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्,
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाऽकुलम्।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥५॥**

अन्वय— (जनः) मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत्, प्रचलद्-ऊर्मि-मालाकुलं समुद्रम् अपि सन्तरेत्, कोपितं भुजङ्गम् अपि पुष्पवद् शिरसि धारयेत्, तु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजन-चित्तं न आराधयेत्।

प्रसङ्ग— इस श्लोक में आचार्य भर्तृहरि मूर्खजन की दुराग्रही चित्तवृत्ति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— (मनुष्य) मगरमच्छ के मुँह की दाढ़ों के बीच से बलपूर्वक रत्न को बाहर निकाल सकता है, चंचल लहरों के समूह से व्याप्त समुद्र को भी तैरकर पार कर सकता है, क्रोधित हुए साँप को भी फूल की भाँति सिर पर धारण कर सकता है, किन्तु दुराग्रही (हठी) मूर्ख व्यक्ति के मन को प्रसन्न नहीं कर सकता।

व्याख्या— प्रस्तुत श्लोक में मूर्खव्यक्ति की हठधर्मिता का निरूपण करते हुए कवि तीन लौकिक उदाहरणों से अपनी बात को पुष्ट करता है कि मगरमच्छ के नुकीले दाँतों के बीच में फँसी हुई मणि को निकाल पाना किसी भी व्यक्ति के लिए असम्भवप्रायः ही है, किन्तु दृढ़निश्चयी व्यक्ति यदि ऐसा करने का साहस करे तो उसे अवश्य ही सफलता मिलती है। ठीक इसी प्रकार यदि कोई बलशाली व्यक्ति ठान ले, तो न केवल वह ऊपर उठती हुई चंचल लहरों से विक्षुब्ध हुए समुद्र को भी पार कर सकता है, अपितु क्रोधित हुए साँप को भी फूलमाला की भाँति अपने सिर पर धारण कर सकता है। किन्तु हठी एवं मूर्ख व्यक्ति के मन को अनुकूल बनाना अथवा उसे समझाना सर्वथा असम्भव ही है। भाव यह है कि मनुष्य

कठिन-से-कठिन कार्य करने का साहस जुटा लेता है, सफलता भी प्राप्त करता है, परन्तु मूर्ख व्यक्ति के हठ या दुराग्रह को नहीं हटा पाता।

भासरचित 'दूतवाक्यम्' की निम्न उक्ति इस विषय में प्रमाण है, जहाँ श्रीकृष्ण के अनेक प्रकार से समझाने पर भी मूर्ख दुर्योधन अपने युद्ध करने के हठ को नहीं छोड़ता है और अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण का कथन— दातुमर्हसि मद्वाक्याद् राज्यार्थं धृतराष्ट्रज।

अन्यथा सागरान्तां गां हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः॥ दूत. 34॥

प्रसिद्ध यूरोपीयन विचारक लॉवेल (Lowell) का भी मत है कि— “मूर्ख तथा मृतकजन अपनी राय नहीं बदलते”— “The foolish and the dead alone never change their opinion.”

● इस श्लोक में पृथ्वी छन्द है, जिसका लक्षण है—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

अर्थात् उक्त छन्द में जगण, सगण, जगण, सगण, यगण और लघु-गुरु के क्रम से 17 वर्ण होते हैं।

● इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार प्रयुक्त हुआ है, जिसका लक्षण है—
“सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।”

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि — मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् = मणिम् + उद्धरेत् + मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि = समुद्रम् + अपि
प्रचलदूर्मिमालाऽकुलम् = प्रचलत् + ऊर्मिमाला + आकुलम्

कारक — मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्—यहाँ 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र द्वारा मकर की दाढ़ों के बीच में से मणि को अलग करने पर 'दाढ़' पद की अपादान संज्ञा प्राप्त होती है और पुनः 'अपादाने पञ्चमी' सूत्र से इस पद में पञ्चमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्,
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥6॥

अन्वय— (मनुष्यः) यत्नतः पीडयन् सिकतासु अपि तैलं लभेत, पिपासार्दितः च (सन्) मृगतृष्णिकासु सलिलं पिबेत्, कदाचित् पर्यटन् शशविषाणम् अपि आसादयेत्, तु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजन-चित्तं न आराधयेत्।

प्रसङ्ग— इस श्लोक में पुनः मूर्खव्यक्ति की दुराग्रहता (हठधर्मिता) का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद- मनुष्य परिश्रमपूर्वक दबाने, रगड़ने से बालू (रेत) में से भी तेल प्राप्त कर सकता है, प्यास से व्याकुल होने पर मृगमरीचिका में भी पानी पी सकता है तथा निरन्तर इधर-उधर घूमता हुआ कभी खरगोश के सींग भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु दुराग्रही-मूर्ख व्यक्ति के मन को कभी प्रसन्न नहीं कर सकता है।

व्याख्या- असम्भव वस्तुओं में सम्भाव्यता की कल्पना करते हुए कवि कहते हैं कि यद्यपि 'बालू से तेल निकालना' यह लोकोक्ति प्रायः किसी कठिनतम अथवा असम्भव कार्य के लिए प्रयोग की जाती है। 'मरुमरीचिकाओं से प्यास बुझाना' भी केवल आँखों का धोखा है, वास्तविक नहीं। इसी प्रकार 'शशविषाण' अर्थात् 'खरगोश का सींग' असम्भव के लिए कहा जाता है, क्योंकि खरगोश के सिर पर सींग नहीं होता। सुरेश्वरवार्तिक में कहा भी गया है— **मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः। एष बन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः॥** तथापि मनुष्य अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक दबाने पर संयोगवश रेत के कणों से तेल की एक-दो बूँदें प्राप्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार प्रयत्न करते-करते भले ही कोई व्यक्ति उपर्युक्त अन्य असम्भव वस्तुओं को प्राप्त करने में सफल हो जाए। किन्तु किसी मूर्ख एवं हठी व्यक्ति के मन को वश में करना सर्वथा असम्भव ही है। रावण तथा दुर्योधन की हठधर्मिता तो जगत् प्रसिद्ध है। दुराग्रही रावण पर मन्दोदरी, विभीषण आदि के समझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु वह राम से युद्ध की बात पर अड़ा रहा। अतः मूर्खजन के विषय में यह उचित ही कहा गया है—

“फलहिं-फलहिं न वेत, यदपि सुध बरसहिं जलद।

मूर्ख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम॥

- इस श्लोक में पृथ्वी छन्द तथा अतिशयोक्ति अलंकार है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी-

मृगतृष्णा- गर्मी के दिनों में मरुस्थल (बालू रेत) में दूर से सूर्य के प्रकाश के कारण जल की आभा-सी दिखाई देती है अर्थात् बालू का रेत चमकने के कारण जल जैसा दिखाई पड़ता है, जिससे हिरण आदि जंगली पशु उस चमक को पानी समझकर प्यास से व्याकुल हुए दौड़कर उधर जाते हैं, किन्तु उन्हें वहाँ जल नहीं मिलता। इसी प्राकृतिक भ्रांति को मृगतृष्णा कहते हैं।

शशविषाणम्- 'खरगोश का सींग'। वस्तुतः यह एक लोकोक्ति है, जो पूर्णतया असम्भव कार्य के लिए लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होता है। चूँकि खरगोश के सींग कभी न देखे गए और न ही सुने गए हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

सन्धि-	तैलमपि	=	तैलम् + अपि
	पिबेच्च	=	पिबेत् + च

पिपासादितः	=	पिपासा + आदितः
कदाचिदपि	=	कदाचित् + अपि
पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्	=	पर्यटन् + शशविषाणम् + आसादयेत्
चित्तमाराधयेत्	=	चित्तम् + आराधयेत्

कारक- तैलम्-सलिलम्-शशविषाणम्- यहाँ सामान्य रूप से 'कर्तुरीप्सिततं कर्म' सूत्र से कर्म की विवक्षा में इन पद्यों की कर्म संज्ञा हुई, तदनन्तर 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र के द्वारा कर्मसंज्ञक पदों तैलम्, सलिलम् तथा शशविषाणम् में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रौद्धुं समुज्जृम्भते,
छेतुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते,
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥७१॥

अन्वय-यः (जनः) सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः खलान्, सतां पथि नेतुं वाञ्छति, असौ बालमृणालतन्तुभिः व्यालं रोद्धुं समुज्जृम्भते। शिरीषकुसुम-प्रान्तेन वज्रमणिं छेतुं सन्नह्यते, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यं रचयितुम् ईहते।

प्रसङ्ग- मधुर उपदेश द्वारा दुर्जनों को सन्मार्ग पर लाना असम्भव ही है- इस भाव को प्रकट करते हुए कवि कहते हैं-

हिन्दी अनुवाद- जो व्यक्ति अमृत बरसाने वाले मधुर वचनों द्वारा मूर्खजनों को सन्मार्ग पर लाना चाहता है, वह (मानो) कोमल कमलनाल के तन्तुओं से मदमत्त (पागल) हाथी को बाँधने की चेष्टा कर रहा है अथवा वह शिरीष (हार-शृङ्गार में प्रयोग होने वाला पुष्प) नामक पुष्प की नोक से हीरे को काटना चाहता है या (वह मानो) शहद की एक बूँद से खारे समुद्र को मीठा करना चाहता है।

व्याख्या- किसी मूर्ख या दुष्ट व्यक्ति को मधुर वाणी युक्त उपदेश द्वारा यदि कोई व्यक्ति सज्जन बताना चाहता है तो वह मानो ठीक उसी प्रकार असम्भव एवं उपहासपूर्ण कार्य कर रहा है, जैसे- कोमल कमल के रेशों (धागो) से किसी मदमस्त हाथी को बाँधना। तात्पर्य यह है कि मदमस्त हाथी को तो लोहे की मजबूत जंजीरों से ही बाँधा जा सकता है, उसे कमलनाल के धागों से बाँधने का प्रयास मूर्खतापूर्ण ही है। इसी प्रकार हीरे जैसी कठोर मणि को बड़े-बड़े हथोड़ों से भी तोड़ना सम्भव नहीं होता, तो फिर उसे शिरीष जैसे कोमल फूल के अग्रभाग से काटने का प्रयास भी हास्यास्पद एवं असम्भव ही है। ठीक ऐसे ही, यदि कोई व्यक्ति शहद की एक बूँद से अपार जलराशि वाले समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाने की चेष्टा करता है, तो वह सम्भव ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि भले ही सुभाषित (सुन्दर वचन) मनुष्य के मन, मस्तिष्क,

प्राण को पुनर्जीवन देते हो, किन्तु मूर्ख व्यक्ति के मन को सुभाषितों से बदला नहीं जा सकता। वैसे भी कहा जाता है कि विद्या सदैव सत्पात्र में ही फलीभूत होती है, कुपात्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा भी इसी भाव को प्रतिपादित किया गया है-

हालाहलं खलु पिपासति कौतुकेन कालानलं परिचुचुम्बिपति प्रकामम्।
व्यालाधिपं च यतते परिरब्धुमद्धा यो दुर्जनं वशयितुं कुरुते मनीषाम्॥

-भामिनीविलास; I/93

- इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है, इसमें क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा गुरु वर्णों की आवृत्ति होती है। जिसका लक्षण है- 'सूर्याश्वैर्मसजास्तता सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।'
- इस श्लोक में असम्भव सम्बन्ध में उपमा की परिकल्पना की गई है, अतः निदर्शना अलंकार है। जिसका लक्षण है- 'अभवत् वस्तुसम्बन्धः उपमापरिकल्पकः।'

व्याख्यात्मक टिप्पणी-

व्याल - 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे इति मेदिनीकोशः' अर्थात् मेदिनीकोश में 'व्याल' के अर्थ-दुष्ट हाथी और सर्प बताए गए हैं। अन्य शब्दकोशों में भी व्याल शब्द के अर्थ- सिंह, सर्प, बाघ, लकड़बग्घा, राजा, ठग, मदमत्त हाथी, आठ की संख्या आदि बताए गए हैं। प्रस्तुत श्लोक में 'व्याल' का अर्थ मदमत्त हाथी ग्रहण करना उचित होगा।

व्याकरणात्मक टिप्पणी-

सन्धि-	बालमृणालतन्तुभिरसौ	=	बालमृणालतन्तुभिः + असौ
	क्षाराम्बुधेरीहते	=	क्षाराम्बुधेः + ईहते
	खलान्पथि	=	खलान् + पथि

कारक- सुधास्यन्दिभिः सुक्तैः - 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से यहाँ करण अर्थ में प्रयुक्त दोनों शब्दों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

क्षाराम्बुधेः - यद्यपि यहाँ अधिकरण अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए था, तथापि 'षष्ठी शेषे' इस सूत्र द्वारा यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।

विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्॥४॥

अन्वय- विधात्रा अपण्डितानाम् अज्ञतायाः छादनम् मौनं विनिर्मितं (यत्) स्वायत्तम् एकान्तगुणं सर्वविदां समाजे विशेषतः विभूषणं (भवति) ।

प्रसङ्ग— 'मूर्खजनों के लिए मौन रहना हर प्रकार से हितसाधक है'— यह भाव व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— विधाता ने मूर्खजनों की मूढ़ता (अज्ञानता) को ढकने वाला साधन मौन नामक गुण को बनाया है, जो स्वयं के अधीन रहने वाला, अत्यन्त हितकारी तथा विद्वानों की सभा में विशेष रूप से शोभनीय होता है (मूर्खों के लिए)।

व्याख्या— कवि के कहने का भाव यह है कि मूर्ख व्यक्ति के पास अपनी मूर्खता को छिपाने का सबसे बड़ा साधन मौन रहना/चुप रहना है। मौन रहना स्वयं अज्ञानी व्यक्ति के वश में है, इसके लिए उसे किसी अन्य की सहायता की जरूरत नहीं होती है। यद्यपि 'मौन रहना' सज्जन-दुर्जन सभी के लिए लाभकारी होता है, क्योंकि मितभाषी व्यक्ति परनिन्दा और मिथ्याभाषण (झूठ बोलना) जैसे कई दुर्गुणों से बच जाता है। तथापि बुद्धिहीन व्यक्ति के लिए मौन रहना विशेष रूप से हितकारी होता है या यूँ कहें कि मूर्खों का विशिष्ट आभूषण मौन ही है, चूँकि ऐसा व्यक्ति विद्वानों की सभा में जब तक नहीं बोलता है, तब तक उसकी मूर्खता छिपी रहती है, और तो और मौन को उसकी विनम्रता ही समझा जाता है। इस प्रसङ्ग में प्रसिद्ध नीतिकार चाणक्य का कथन उल्लेखनीय है—

मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः।

तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते॥

- इस श्लोक में **उपजाति** छन्द है, जिसमें कुछ चरण इन्द्रवज्रा छन्द के होते हैं तथा कुछ उपेन्द्रवज्रा छन्द के होते हैं। लक्षण इस प्रकार हैं—**अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।**

इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम॥

- इस श्लोक में **निदर्शना** अलंकार है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

विधाता— यहाँ विधातृ शब्द 'ब्रह्मा' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो सम्पूर्ण सृष्टि के उत्पादक, निर्माता, रचयिता अथवा स्रष्टा कहे जाते हैं।

एकान्तगुणम्— एकान्तगुण से तात्पर्य ऐसा गुण जिसका परिणाम निरपेक्ष, निश्चित, गुणकारी और एकमात्र हो अर्थात् ऐसा गुण जो सम्पूर्ण रूप से मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	स्वायत्तमेकान्तगुणम्	=	स्वायत्तम् + एकान्तगुणम्
	छादनमज्ञतायाः	=	छादनम् + अज्ञतायाः
	मौनमपण्डितानाम्	=	मौनम् + अपण्डितानाम्

कारक— विधात्रा—‘कर्तृकरणयोस्तृतीया’ इस सूत्र द्वारा कर्ता अनुक्त (अनभिहित) होने से कर्ता ‘विधातृ’ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अज्ञतायाः— यहाँ अज्ञता शब्द में कृत् प्रत्यय (भाव अर्थ में तल् प्रत्यय) प्रयुक्त हुआ है। अतः ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ इस सूत्र द्वारा ‘अज्ञता’ शब्द के ‘कर्म अर्थ’ में प्रयुक्त होने पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

छादनम्— यहाँ ‘छादनम्’ शब्द भाव अर्थ में (कर्मत्व) ल्युट् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है, अतः ‘प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा’ इस सूत्र से प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

समाजे— ‘अधिकरणे सप्तमी’ इस सूत्र द्वारा अधिकरण संज्ञक ‘समाज’ शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥१९॥

अन्यव— यदा अहं किञ्चित् ज्ञः, द्विपः इव मदान्धः समभवं, तदा ‘सर्वज्ञः अस्मि’ इति मम मनः अवलिप्तम् अभवत्। यदा (मया) बुधजनसकाशात् किञ्चित् किञ्चित् अवगतम्, तदा ‘मूर्खः अस्मि’ इति मे मदः ज्वर इव व्यपगतः।

प्रसङ्ग— ‘अल्पज्ञान अहंकार को उत्पन्न करता है तथा विशिष्ट ज्ञान अहंकार को विनष्ट करता है’— इसी आशय को व्यक्त करते हुए भर्तृहरि कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— जब मैं अल्पज्ञानी था तो हाथी के समान घमण्ड के दर्प में मग्न था। तब ‘मैं सर्वज्ञ हूँ’— ऐसा सोचकर मेरा मन अहंकारयुक्त हो गया था। (किन्तु) जब मैंने विद्वानों के सान्निध्य से थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया, तब ‘मैं मूर्ख हूँ’— यह जानकर मेरा अहंकार ज्वर की भाँति नष्ट हो गया।

व्याख्या— ‘अधजल गगरी छलकत जाए’— इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कवि कहता है कि अल्पज्ञान व्यक्ति के लिए अतिशय हानिकारक होता है और उससे भी अधिक हानिकारक अल्पज्ञता होने पर भी सर्वज्ञता के अहंकार को प्रकट करना होता है। अल्पज्ञ व्यक्ति मदमत्त हाथी की भाँति घमण्ड में चूर रहता है। ऐसे पुरुष की स्थिति ‘कूप-मण्डूक’ जैसी होती है। जिस प्रकार से कुएँ का मेंढक जब तक कुएँ के सीमित क्षेत्र में रहता है, वह उसी को सम्पूर्ण संसार मानता है। परन्तु जब वह सरोवर की विशालता से परिचित होता है, तब उसे अपनी अज्ञानता का पता चलता है।

इसी प्रकार अल्पज्ञानी व्यक्ति जबतक विद्वानों से दूर रहता है, तबतक वह स्वयं को सर्वज्ञ मानता है, किन्तु जैसे ही वह विद्वानों की संगति में बैठता है, वह विविध ज्ञान प्राप्त करता है। फलतः उसे अपनी वास्तविकता का भान होता है और धीरे-धीरे उसका अहंकार नष्ट होने लगता है। विद्या (ज्ञान) व्यक्ति को विनम्र बनाती है— “विद्या ददाति विनयम्।” वस्तुतः अल्पज्ञता यदि अहंकार का कारण बनती है तो दूसरी ओर विद्वानों की संगति विद्वत्ता का कारण बनती है।

- इस पद्य में शिखरिणी छन्द है, जिसमें यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और लघु-गुरु वर्णों का क्रम रहता है। लक्षण है— ‘रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।’
- (i) इस पद्य में ‘अहंकार’ की उपमा ‘हाथी के मद’ से दी गई है, अतः उपमा अलंकार है, जिसका लक्षण है— ‘साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्येक्योपमाद्वयोः।’
- (ii) इस पद्य में काव्यलिंग अलंकार भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका लक्षण है— ‘हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगमुदाहृतम्।’

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

किञ्चिज्ज्ञः — किञ्चित् जानाति इति किञ्चिज्ज्ञः अर्थात् अल्पज्ञान वाला व्यक्ति (अल्पज्ञानी)। अल्पज्ञानी व्यक्ति घमण्ड से भरा होता है और स्वयं को विद्वान् समझता है। वस्तुतः वह अहंकार के कारण विवेकशून्य हो चुका होता है। कहा भी है— “अल्पविद्यो महागर्वी।”

सर्वज्ञः — सर्व जानाति इति सर्वज्ञः अर्थात् विद्वान्/बुद्धिमान् व्यक्ति, जो व्याकरणादि शास्त्रों को भली-भाँति जानने वाला हो, साथ ही कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से युक्त हो।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	किञ्चिज्ज्ञोऽहम्	=	किञ्चित् + ज्ञः + अहम्
	सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तम्	=	सर्वज्ञः + अस्मि + इति + अभवत् + अवलिप्तम्
	बुधजनसकाशादवगतम्	=	बुधजनसकाशात् + अवगतम्
	मूर्खोऽस्मीति	=	मूर्खः + अस्मि + इति
	ज्वर इव	=	ज्वरः + इव
	मदो मे	=	मदः + मे

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं,
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्खरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते,
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥10॥

अन्वय- श्वा कृमिकुलचितं, लालाक्लिनं, विगन्धि, जुगुप्सितं, निरामिषम्, खरास्थि निरुपमरसम् प्रीत्या खादन्, पार्श्वस्थम् सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते, क्षुद्रः जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् न गणयति।

प्रसङ्ग- 'स्वार्थी व्यक्ति स्वयं द्वारा स्वीकृत वस्तु की तुच्छता को नहीं विचारता है'- इस विषय को लौकिक उदाहरण द्वारा समझाते हुए कवि कहता है-

हिन्दी अनुवाद- कुत्ता कीड़ों से भरी हुई, लार से भीगी हुई, दुर्गन्धयुक्त, घृणा करने योग्य, मांसरहित गर्दभ (गधा) की हड्डी को अत्यन्त स्वादपूर्वक खाता हुआ अपने पास में खड़े हुए देवताओं के स्वामी इन्द्र को देखकर भी लज्जा/शंका नहीं करता। वास्तव में तुच्छ प्राणी (नीच व्यक्ति) अपने द्वारा स्वीकृत वस्तु की तुच्छता को नहीं गिनता है।

व्याख्या- कवि का आशय है कि तुच्छ (नीच, क्षुद्र) व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए घृणित से घृणित कार्य कर सकता है और तो और उसे घृणित कार्य करते हुए किसी प्रकार की शंका अथवा लज्जा भी महसूस नहीं होती। वह अपने द्वारा स्वीकृत तुच्छ कार्य में इतना मग्न रहता है कि उस समय अपने सामने उपस्थित किसी श्रेष्ठ व्यक्ति या वस्तु पर भी ध्यान नहीं देता। मानव के इस स्वभाव को कुत्ते के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत श्लोक में चित्रित किया है- जैसे कुत्ता कीड़ों से भरी हुई, लारयुक्त, दुर्गन्धयुक्त, घृणित, मांसरहित गधे की हड्डी को बड़े चाव से खाता है। उस समय यदि उसके समक्ष देवाधिदेव इन्द्र भी आ जाए तो वह हड्डी को नहीं छोड़ सकता, और तो और इस तुच्छ कृत्य पर तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं करता। इसी प्रकार नीच व्यक्ति भी अपने द्वारा किए जा रहे घृणास्पद कार्य के प्रति न तो लज्जा अनुभव करता है और न ही उस घृणित कृत्य का त्याग करता है। वस्तुतः वह अपने स्वार्थ में इतना लीन होता है कि कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में भी विवेकशून्य हो जाता है।

- इस पद्य में **हरिणी** छन्द है, जिसमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण तथा लघु-गुरु वर्णों का क्रम रहता है। लक्षण है- '**नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैः हरिणी मता।**'
- (i) इस पद्य में सामान्य से विशेष का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलंकार प्रयुक्त हुआ है, जिसका लक्षण है- **सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि, कार्यञ्च कारणेनेदं कार्येण च समर्थनात्।**
- (ii) इस पद्य में **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार भी है। चूँकि अप्रस्तुत कुत्ते के दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत नीच व्यक्ति का वर्णन किया गया है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी-

खरास्थि- इस श्लोक में 'खरास्थि' के स्थान पर 'नरास्थि' पाठभेद भी प्राप्त होता है, जिसका अर्थ होगा- मनुष्य की हड्डी। परन्तु अर्थ औचित्य की दृष्टि से यहाँ 'नरास्थि' के स्थान पर 'खरास्थि' पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि 'मनुष्य की हड्डी' इस प्रकार का अर्थ प्रायः सहज नहीं होता।

न हि गणयति क्षुद्रो जन्तु परिग्रहफल्गुताम्— प्रस्तुत श्लोक का यह अन्तिम चरण नीतिकथन अथवा सूक्ति है। जिसका सामान्य अर्थ है— क्षुद्रजीव अपनी ग्रहीत वस्तु की तुच्छता को नहीं गिनता है। यहाँ क्षुद्रजीव का प्रतीकात्मक अर्थ नीच व्यक्ति अथवा स्वार्थी व्यक्ति है। निम्न (तुच्छ) मानसिकता वाला व्यक्ति प्रायः स्वार्थी होता है और वह अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए निम्न से निम्नतर स्तर तक जाने में कभी कोई संकोच/लज्जा अनुभव नहीं करता।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	खादन्खरास्थि	=	खादन् + खरास्थि
	सुरपतिमपि	=	सुरपतिम् + अपि
	क्षुद्रो जन्तुः	=	क्षुद्रः + जन्तुः

कारक— खरास्थि—यह खादन् क्रिया का कर्म है, अतः ‘कर्तृरीप्सिततमं कर्म’ सूत्र से इस पद की कर्मसंज्ञा होती है तथा ‘कर्मणि द्वितीया’ इस नियम की सहायता से ‘खरास्थि’ पद में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

प्रीत्या— ‘प्रीत्या’ शब्द कारण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण ‘हेतौ’ सूत्र से यहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं,
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा,
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥११॥

अन्यव— इयं गङ्गा स्वर्गात् शार्वं शिरः, पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्, उत्तुङ्गात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः च अपि जलधिम्, (एवम्) अधः अधः स्तोकं पदम् उपगता अथवा विवेकभ्रष्टानां विनिपातः शतमुखः भवति।

प्रसङ्ग— ‘विवेकशून्य व्यक्ति का अनेक प्रकार से पतन होता है’— इसी आशय को प्रकट करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— यह गंगा नदी स्वर्गलोक से शिव के मस्तक पर, शिवजी के मस्तक से पर्वत पर, ऊँचे पर्वत से पृथ्वी पर और पृथ्वी से वह समुद्र में जा गिरी। इस प्रकार नीचे-नीचे क्रमशः स्थान प्राप्त किया अथवा विवेक से भ्रष्ट हुए मनुष्यों का पतन सैकड़ों प्रकार से होता है।

व्याख्या— कवि के कथन का आशय है कि सर्वोच्च स्थान से पतित हो जाना ही विवेकहीनता है। विवेक अथवा ज्ञान से हीन व्यक्ति धीरे-धीरे अधःपतन को प्राप्त करता हुआ अन्त में विनष्ट हो जाता है।

इसी नीतिकथन को गंगा-अवतरण की पौराणिक कथा के माध्यम से स्पष्ट किया है— कहा जाता है कि राजा सगर के अश्वमेधीय घोड़े को ढूँढ़ते हुए उसके 60 हजार पुत्र कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचे। उनके द्वारा निरपराधी कपिल मुनि पर दोषारोपण करने पर, मुनि ने उन सभी को क्रोध से भस्म कर डाला। उसके बाद राजा सगर की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न राजा भगीरथ अपने पूर्वजों की आत्मा की शान्ति के लिए कठोर तपस्या करके गंगा को पृथ्वी पर लाए। किन्तु यह सर्वविदित है कि गंगा ने सर्वप्रथम अभिमानवश विष्णु पद से लुप्त होकर शिवजी के मस्तक पर, शिव के मस्तक से हिमालय के शिखर पर, वहाँ से पृथ्वीतल पर तथा पुनः पृथ्वीतल से सागर में पहुँचकर अपना अस्तित्व ही खो दिया।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को विवेक से काम करना चाहिए, चूँकि विवेक शक्ति से ही मनुष्य नीति-अनीति, शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे की पहचान कर पाता है, अन्यथा विवेकशून्य व्यक्ति गंगा के समान ही निरन्तर नीचे-ही-नीचे पतन की ओर जाते हुए अस्तित्वहीन हो जाता है।

- इस पद्य में शिखरिणी छन्द तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

शार्वम्— शार्वम् का सामान्य अर्थ है—भगवान शिव को। यहाँ प्रसङ्गानुकूल यह ध्यातव्य है कि सूर्यवंशी राजा भगीरथ ने जब अपने पूर्वजों की मोक्षप्राप्ति हेतु शिवजी की आराधना कर गंगावतरण की प्रार्थना की तो गंगा ने बड़े गर्व से भगीरथ को कहा कि मैं स्वर्ग से पृथ्वी पर तभी आ सकती हूँ, यदि कोई मेरे तीव्र प्रवाह को सहन करने में समर्थ हो। तब शिवजी ने गंगा की प्रवाह शक्ति को सहन करना स्वीकार किया था। तदनन्तर गंगा उत्तरोत्तर नीचे की ओर जाते हुए अन्ततः सागर में जा गिरी थी। इस सम्पूर्ण कथा का उल्लेख रामायण में उल्लिखित है। (रामायण; I = 35-44)

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	महीध्रादुत्तुङ्गादवनिम्	—	महीध्रात् + उत्तुङ्गात् + अवनिम्
	अवनेश्चापि	—	अवनेः + च + अपि
	अधोऽधो	=	अधः + अधः
	गङ्गेयम्	=	गङ्गा + इयम्
	पदमुपगता	=	पदम् + उपगता
	स्तोकमथवा	=	स्तोकम् + अथवा

कारक— स्वर्गात्-महीध्रात्— यहाँ सामान्य रूप से 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र द्वारा 'से अलग होने' अर्थ में उक्त दोनों पदों की अपादान संज्ञा होती है तथा 'अपादाने पञ्चमी' (जनिकर्तुः प्रवृत्तिः) इस सूत्र के अनुसार अपादान संज्ञक 'स्वर्ग', 'महीध्रः' पदों में पञ्चमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

जलधिम- यहाँ का 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र द्वारा 'जलधि' पद की कर्मसंज्ञा होता है तथा पुनः 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र के अनुसार कर्म अर्थ में प्रयुक्त 'जलधि' पद में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्॥12॥

अन्वय- हुतभुक् जलेन वारयितुं शक्यते, सूर्यातपः छत्रेण समदः नागेन्द्रः निशिताङ्कुशेन, गोगर्दभौ दण्डेन, व्याधिः भेषजसङ्ग्रहैश्च विषम विविधैः मन्त्रप्रयोगैः (वारयितम् शक्यते) सर्वस्य शास्त्रविहितम् औषधम् अस्ति (किन्तु) मूर्खस्य औषधम् न अस्ति।

प्रसङ्ग- 'मूर्खता के निवारण हेतु शास्त्रों में भी कोई औषधि प्राप्त नहीं होती है'- इस आशय को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं-

हिन्दी अनुवाद- आग को जल द्वारा शान्त किया जा सकता है, सूर्य की धूप को छाते से, मदमस्त हाथी को तीक्ष्ण अंकुश से, बैल और गधे को डण्डे से, रोग को विविध औषधियों से, विष को अनेक प्रकार के मन्त्र-प्रयोग द्वारा दूर किया जा सकता है। इस प्रकार सभी के लिए शास्त्रों में औषधि बताई गई है, किन्तु मूर्ख की कोई औषधि नहीं है।

व्याख्या- मूर्खता को एक असाध्य रोग के रूप में चित्रित करते हुए कवि भर्तृहरि ने अनेक उदाहरणों द्वारा उक्त कथन को पुष्ट किया है। जैसे- आग कितनी भी तीव्र फैली हो, उसे पानी से बुझाया जा सकता है, सूर्य की तेज धूप को छाते से कम किया जा सकता है, मदमस्त हाथी को भी नुकीले दण्डादि से वश में कर सकते हैं। इसी प्रकार बैल व गधे को डण्डे से, किसी रोग विशेष को औषधि से तथा मन्त्र प्रयोग द्वारा सर्प-बिच्छु आदि के विष का निवारण किया जा सकता है, परन्तु किसी मूर्ख व्यक्ति का नहीं। तात्पर्य यह है कि संसार की प्रायः सभी दुःखदायी परिस्थितियों का निदान शास्त्रों में विहित है, किन्तु मूर्ख व्यक्ति कब, किस परिस्थिति में क्या आचरण करेगा- यह न तो जाना जा सकता है और न ही शास्त्रों में इसका कोई उपाय बताया गया है। सुविचारकों के शब्दों में-"विधाता जो सम्पूर्ण सृष्टि को रचने वाला है, वह भी मूर्ख की मूर्खता दूर करने में अक्षम है।"

इत्थं तद् भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपाया चिन्ता कृता।

मन्ये दुर्जन चित्तवृत्ति हरणे धातापि भगनोद्यमः॥

- इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

नागेन्द्रः — नागेन्द्र शब्द का सामान्य अर्थ है— गजराज अथवा गजश्रेष्ठ। 'नागेन्द्र' इस समस्तपद का दो प्रकार से विग्रह किया जा सकता है—(i) नागानाम् इन्द्रः अर्थात् हाथियों का राजा, (ii) नागेषु इन्द्रः अर्थात् सभी हाथियों में जो श्रेष्ठ है, वह नागेन्द्र कहलाता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	शक्यो वारयितुम्	=	शक्यः + वारयितुम्
	नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन	=	नागेन्द्रः + निशिताङ्कुशेन
	समदो दण्डेन	=	समदः + दण्डेन
	व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च	=	व्याधिः + भेषजसङ्ग्रहैः + च
	विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम्	=	विविधैः + मन्त्रप्रयोगैः + विषम्
	सर्वस्यौषधमस्ति	=	सर्वस्य + औषधम् + अस्ति
	नास्त्यौषधम्	=	न + अस्ति + औषधम्

कारक— जलेन—'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र के अनुसार करण अर्थ में प्रयुक्त जल, दण्ड, निशिताङ्कुश—इन सभी पदों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥13॥

अन्वय— साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः (नरः) पुच्छ विषाणहीनः साक्षात् पशुः (एव अस्ति) तृणम् न खादन् अपि (सः) जीवमानः तत् पशूनाम् परमं भागधेयम् (अस्ति)।

प्रसङ्ग— साहित्य, संगीत तथा विविध कलाओं के ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— साहित्य, संगीत और कला से रहित (मनुष्य) पूँछ व सींग से रहित साक्षात् पशु ही है। जो वह घास के तिनके न खाता हुआ भी जीवित रहता है, वह पशुओं का परम सौभाग्य है।

व्याख्या— कवि का अभिप्राय है कि मनुष्य और पशु में 'बुद्धि' का ही अन्तर होता है। मनुष्य बुद्धि के बल पर साहित्य, संगीत तथा कलाएँ सीख सकता है। यदि मानवजाति में उत्पन्न होकर भी जिस व्यक्ति ने काव्यादि साहित्य का अध्ययन नहीं किया, गीत-नृत्य-वाद्यादि विषयक संगीत का ज्ञान प्राप्त नहीं किया अथवा शास्त्रों में विहित 64 प्रकार की कलाओं को भी नहीं सीखा तो वह व्यक्ति मनुष्य कहने का अधिकारी नहीं है। वस्तुतः वह सींग, पूँछ, चार पैरों से रहित साक्षात् पशु ही है। चूँकि अन्य सभी क्रियाएँ

यथा भोजन, शयन, भय, क्रोध, मनोरंजन आदि तो पशु भी समान रूप से करते ही हैं। केवल इतना सौभाग्य पशुओं का है कि वह नर पशु घास नहीं खाता, यदि वह गुण भी उसमें हो तो पशु बेचारे भूखे ही मर जाँ। तात्पर्य यह है कि बुद्धियुक्त होते हुए भी मनुष्य को पशु के समान व्यवहार नहीं करना चाहिए, अपितु साहित्यादि का अधिक-से-अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

- इस श्लोक में **उपजाति** छन्द प्रयुक्त हुआ है (श्लोक 8 में लक्षण दिया गया है)।
- इस श्लोक में **रूपक** अलंकार है, लक्षण है— ‘**रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपहनवे।**’

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

संगीत— संगीत का अर्थ है— समूह में गाया जाने वाला मधुर गान। संगीत विशेष रूप से ऐसा गायन होता है जो नृत्य तथा विभिन्न सितार आदि वाद्ययन्त्रों के साथ गाया जाता है।

कला— कला का सामान्य अर्थ है— किसी वस्तु का छोटा-सा टुकड़ा, चन्द्रमा की एक रेखा (जो 16 अंश होता है) अथवा समय का एक परिमाण। किन्तु इस श्लोक में कला से तात्पर्य शिल्पकला, ललितकला आदि प्रायोगिक कलाओं से है। प्राचीन शास्त्रों में संगीत, नृत्य आदि कुल 64 कलाएँ बताई गई हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— खादन्नपि = खादन् + अपि
जीवमानस्तद्भागधेयम् = जीवमानः + तत् + भागधेयम्

कारक— तृणम्—‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्’ इस सूत्र के अनुसार कृत् प्रत्ययान्त पद ‘खादन्’ के योग से यहाँ ‘तृणम्’ शब्द में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

येषां न विद्या न तपो न दानं,
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥14॥

अन्वय— येषां न विद्या न तपो, न दानम्, (न) ज्ञानम्, न शीलम्, न गुणो, न धर्मः ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः (सन्ति) मनुष्यरूपेण मृगाः चरन्ति।

प्रसङ्ग— सांसारिक जीवन हेतु मानवोचित गुणों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— जिन मनुष्यों के पास न विद्या है, न तप, न ज्ञान, न सौम्य स्वभाव, न गुण और न ही धर्म है। वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी पर भारस्वरूप हैं तथा मनुष्य के रूप में पशु ही घूम रहे हैं।

व्याख्या— ज्ञानहीन मनुष्यों की पशुओं से तुलना करते हुए कवि कहता है कि इस संसार में जिसने व्याकरण आदि शास्त्रों का कभी अध्ययन नहीं किया, व्रत-उपवास विषयक तपस्या नहीं की, किसी प्राणी को कभी दान नहीं दिया, ज्ञानार्जन नहीं किया, जीवन में कभी सौम्य स्वभाव या सदाचार का आचरण नहीं किया, दया-दाक्षिण्यादि गुणों को कभी धारण नहीं किया और न ही कभी धर्म का पालन किया तो ऐसे व्यक्ति का मनुष्य जीवन निरर्थक है। वस्तुतः ऐसा व्यक्ति मनुष्यरूप में होने पर भी आचरण के कारण पशु ही कहलाएगा। अतः मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए ऊपर बताए गए गुणों का पालन करना चाहिए।

- इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में **इन्द्रवज्रा** छन्द (लक्षण—**स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगो गः**) तथा अन्तिम चरण में **उपेन्द्रवज्रा** छन्द (लक्षण—**उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गः**) है। अतः दोनों के मिश्रण के कारण यहाँ उपजाति छन्द प्रयुक्त हुआ है।
- इस श्लोक में **रूपक** अलंकार है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

विद्या— विदन्ति अनया इति विद्या—इसके द्वारा शास्त्रों को जाना जाता है। विभिन्न विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विद्या के भेद किए हैं। विद्या के परा और अपरा दो भेद हैं, आन्वीक्षकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीति— ये चार भेद भी विद्या के ही बताए गए हैं। विद्या के वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद)—वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष)—इतिहास-पुराण-न्याय-मीमांसा आदि चौदह भेद भी कहे गए हैं।

तप— तपस्या, पुण्यकर्म, कथादि धार्मिक अनुष्ठान, शरीर तथा मन को पवित्र करने वाले विभिन्न व्रत, उपवासादि, स्वयं के वर्ण तथा आश्रम विषयक शास्त्रविदित कर्मानुष्ठान करना—ये सभी तप कहलाते हैं।

ज्ञान— जानना, बोध होना, आत्मसाक्षात्कार, सभी विषयों को ग्रहण करने वाली मन की वृत्ति, शास्त्र के अनुशीलन से आत्मतत्त्व का अवबोधन, सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, नीति-अनीति विवेक, लोक-परलोक सम्बन्धी तथ्यों का बोध आदि ये सभी ज्ञान के प्रतिरूप हैं।

गुण— सत्य, अहिंसा, दया, उदारता, विनम्रता, धैर्य, मधुर वाणी आदि।

धर्म— जिस कार्य को करने से इहलोक में उन्नति तथा परलोक में मोक्ष सिद्धि हो, उचित-अनुचित का बोध कराने वाले वेदविहित कर्तव्यबोध, ईश्वरभक्ति, सत्कर्म, कर्तव्यपालना आदि धर्म कहलाते हैं।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— तपो न = तपः + न

गुणो न = गुणः + न

मृगाश्चरन्ति = मृगाः + चरन्ति

कारक— दानम्—ल्युट् होने पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है।

भुवि— 'सप्तम्यधिकरणे' सूत्र के अनुसार अधिकरण संज्ञा अर्थ में प्रयुक्त 'भुवि' पद में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।

न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥15॥

अन्वय— वनचरैः सह पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वरम् (किन्तु) मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेषु अपि न (वरम् अस्ति)।

प्रसङ्ग— मूर्ख व्यक्ति की संगति से दूर रहने का उपदेश देते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— वन में रहने वाले लोगों के साथ पहाड़ी दुर्गम स्थानों में भ्रमण करना अच्छा है, किन्तु मूर्ख लोगों की संगति में तो स्वयं इन्द्र के महलों में भ्रमण करना भी श्रेयस्कर नहीं।

व्याख्या— मूर्ख व्यक्ति की संगति की अपेक्षा अनेक कष्टों से पूर्ण वनवासियों की संगति अधिक श्रेष्ठ है। मूर्ख के साथ रहना मानो आपत्ति को निमन्त्रण देना है। चूँकि कब वह मूर्खतापूर्ण कथन या आचरण से किसी अनिष्ट का कारण बन जाए, यह कहा नहीं जा सकता। इसलिए कभी भी मूर्ख व्यक्ति की संगति में नहीं रहना चाहिए, चाहे उसके साथ रहने से कितनी भी सुख-सुविधाएँ अथवा स्वर्ग लोक का सुख ही क्यों न मिलता हो।

- इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है, लक्षण है—

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्।

द्विचतुष्पादयोः ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

- इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलंकार प्रयुक्त हुआ है (श्लोक 9 में लक्षण दिया गया है)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— सुरेन्द्रभवनेष्वपि – सुरेन्द्रभवनेषु + अपि।

कारक— पर्वतदुर्गेषु—‘सप्तम्यधिकरणे’ सूत्र के अनुसार अधिकरण संज्ञक पर्वतदुर्गेषु, सुरेन्द्रभवनेषु पदों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

वनचरैः— ‘सहयुक्तेऽप्रधाने’ सूत्र के अनुसार ‘सह’ के योग में ‘वनचरैः’ पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

नीतिशतकम् (पद्य संख्या 16-21) : मूल पाठ, अनुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणियाँ

विद्वत्पद्धति

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा,
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयस्त्वर्थं विनाऽपीश्वराः,
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥16॥

अन्वय—यस्य प्रभोः विषये शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः विख्याताः कवयः निर्धनाः वसन्ति तत् वसुधाधिपस्य जाड्यं, हि कवयः तु अर्थं विना अपि ईश्वराः (भवन्ति), (ते) कुपरीक्षकाः कुत्स्याः स्युः यैः मणयः अर्घतः पातिताः।

प्रसङ्ग— ‘विद्वज्जन, प्रत्येक समय एवं परिस्थिति में राजाओं द्वारा पूजनीय होते हैं’— इसी भाव को प्रकट करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— जिस राजा के राज्य में (व्याकरणादि) शास्त्रों द्वारा शुद्ध-परिष्कृत वाणी वाले, शिष्यों को विविध शास्त्रों का उपदेश देने वाले, सुप्रसिद्ध कवि यदि निर्धन होकर रहते हैं, तो इससे उस राजा की ही मूर्खता सिद्ध होती है (जिसके राज्य में कवि रहते हैं)। चूँकि विद्वान् कवि तो धन के बिना भी समर्थ एवं पूज्य होते हैं, निन्दनीय वे रत्न-पारखी हैं, जिन्होंने रत्नों का उचित मूल्य नहीं आंका।

व्याख्या— विद्वज्जन/कविजन प्रायः राजा के आश्रय में ही सुशोभित होते हैं, अतः वे राजाओं द्वारा सम्मान प्रदान किए जाने के पात्र हैं। यथा— “सदाश्रयेण शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः।” अर्थात् विद्वज्जन, स्त्रियाँ तथा लताएँ श्रेष्ठ आश्रय में ही सुशोभित होते हैं। कवियों की वाणी विविध शास्त्रों विशेषतः व्याकरण से शुद्ध, संस्कारित होती है तथा वे अपने शिष्यों को भी शास्त्रज्ञान देकर उन्हें योग्य बनाते हैं, जिससे वे सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के कविजन यदि राजा के राज्य में निर्धनतापूर्वक रहते हैं, तो वह राजा ही निन्दा का पात्र बनता है विद्वान् कवि नहीं। चूँकि कविजन तो धनहीन होते हुए भी अपने श्रेष्ठ कवित्व के बल पर सर्वत्र सम्मानीय एवं प्रशंसनीय होते हैं। कहा भी गया है—**विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्** अर्थात् विद्या का धन सबसे बड़ा धन है।

महाकवि भर्तृहरि ने रत्न और जौहरी के दृष्टान्त द्वारा उक्त कथन को पुष्ट किया है कि जैसे कोई जौहरी बहुमूल्य रत्न को पत्थर बताकर उसका उचित मूल्य नहीं देता तो इसमें रत्न का दोष नहीं है, अपितु

रत्नपारखी का दोष है। यही स्थिति राजा और कविजन की है। कवि विल्हण ने राजाओं को सावधान करते हुए एक स्थान पर कहा भी है— लङ्कापतेः सङ्कुचितं यशो यद् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।

सः सर्वं एकादिकेवः प्रभावो न कोपनीयाः कवयःक्षितीन्दैः॥

—विक्रमाङ्कदेवचरितम्; 15

अर्थात् वे (राजा) कवियों को कभी दुःखी या अप्रसन्न न करें, क्योंकि कवि रावणादि के यश को धूमिल करता है, तो वह रामादि राजा को यशस्वी भी बनाता है। राजा भोज एवं विक्रमादित्य इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

- प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा काव्यलिंग अलंकार है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	कवयो वसन्ति	=	कवयः + वसन्ति
	प्रभोर्निर्धनाः	=	प्रभोः + निर्धनाः
	तज्जाड्यम्	=	तत् + जाड्यम्
	कवयस्त्वर्थम्	=	कवयः + तु + अर्थम्
	विनापीश्वराः	=	विना + अपि + ईश्वराः
	कुपरीक्षका हि	=	कुपरीक्षकाः + हि
	मणयो यैर्घतः	=	मणयः + यैः + अर्घतः

कारक— अर्थ विना—‘पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्’ इस सूत्र द्वारा ‘विना’ के योग में ‘अर्थम्’ पद में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। पृथक् आदि शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति भी होती है।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्पाति यत्सर्वदा—

ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।

कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं

येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते॥17।

अन्वय— यत् हर्तुः गोचरं न याति, सर्वदा किमपि शं पुष्पाति, अर्थिभ्यः अनिशं प्रतिपाद्यमानम् अपि परां वृद्धिं प्राप्नोति, कल्पान्तेषु अपि निधनं न प्रयाति (तत्), विद्याख्यम् अन्तर्धनं येषां (अस्ति) तान् प्रति हे नृपाः! मानम् उज्झत, तैः सह कः स्पर्धते।

प्रसङ्ग— विद्याधन सबसे श्रेष्ठ धन है, अतः राजाओं को विद्वानों के प्रति आदरभाव रखने का उपदेश देते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— जो (विद्या रूपी धन) चुराने वाले को दृष्टिगोचर नहीं होता, जो सदा अकथनीय (अव्यक्त) कल्याण को पुष्ट करता है, जो माँगने वाले (शिष्यों, जिज्ञासुओं) को निरन्तर दिए जाने पर भी अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त करता है, कल्प का अन्त होने पर भी जो विनष्ट नहीं होता है, वह विद्या नामक आन्तरिक गुप्त धन जिनके पास है, उनके प्रति हे राजाओं! अभिमान को त्याग दो। उनके साथ भला कौन स्पर्धा कर सकता है अर्थात् कोई नहीं।

व्याख्या— विद्याधन के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं कि जो राजा अथवा धनी व्यक्ति अपने धन-वैभव के कारण विद्यावान् जनों के सामने अहंकार करते हैं और विद्वज्जनों को तुच्छ समझते हैं, ऐसे लोगों को विद्वानों के प्रति अभिमान त्याग कर उचित मान-सम्मान करना चाहिए, क्योंकि विद्वानों के पास ऐसा विद्या रूपी गुप्त धन है—‘विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्’, जिसका स्थूल स्वरूप न होने से आँखों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। अतः कोई चोर भी इस धन को चुरा नहीं सकता। दूसरा, ग्रहण करने वाले का यह विद्या हमेशा कल्याण करती है, विविध कठिनाइयों से बचने का उपाय बताती है। विद्या ही एकमात्र ऐसा गुप्त धन है, जो व्यय करने पर अर्थात् जिज्ञासु शिष्यों को वितरित करने पर न तो समाप्त होता है, न ही क्षीण होता है, अपितु निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। कहा भी गया है—‘दाने नैव क्षयं याति विद्याधनं महाधनम्।’ कल्पान्त में भी इस धन के विनाश की कोई सम्भावना नहीं होती। तात्पर्य यह है कि विद्याधन हर प्रकार से मनुष्य मात्र हेतु उन्नति का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः विद्या रूपी धन से अभिषिक्त जनों के साथ भला कौन स्पर्धा कर सकता है अर्थात् कोई भी नहीं, ऐसे जन तो प्रत्येक काल और परिस्थिति में सर्वत्र पूजनीय होते हैं, विद्यारूपी महाधन की श्रेष्ठता अन्यत्र भी प्रतिपादित की गई है—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।

व्यये कृते वर्धत एवं नित्यं विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्॥

- इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।
- इस श्लोक में रूपक एवं विरोधाभास अलंकार हैं।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

कल्प :— कल्प शब्द समय के परिमाण का द्योतक है। ब्रह्मा का एक अहोरात्र (दिन-रात) का मान दो कल्प होता है, ऐसा सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में उल्लिखित है। एक कल्प का मान 4,32,00,00,000 सौर वर्ष का होता है, जो कि 14 मन्वन्तर तथा 15 सत्ययुग के समान सन्ध्याओं को जोड़ने पर आता है। यथा सूर्यसिद्धान्तानुसार (1/19)— ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।

कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशस्मृताः॥

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	हर्तुर्याति	= हर्तुः + याति
	ह्यर्थिभ्यः	= हि + अर्थिभ्यः
	कल्पान्तेष्वपि	= कल्पान्तेषु + अपि
	विद्याख्यमन्तर्धनम्	= विद्या + आख्यम् + अन्तर्धनम्
	मानमुज्झत	= मानम् + उज्झत
	कस्तैः	= कः + तैः

कारक— तान् प्रति— “अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेषु च दृश्यते” इस वार्तिक के अनुसार ‘प्रति’ के योग में ‘तान्’ पद में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

तैः सह— ‘सहयुक्तेऽप्रधाने’ इस सूत्र के अनुसार ‘सह’ के योग में ‘तैः’ पद में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् माऽवमंस्था—

स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि।

अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां

न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम्॥18॥

अन्वय— (हे नृप!) अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मा अवमंस्थाः, लघु तृणम् इव लक्ष्मीः तान् नैव संरुणद्धि, विसतन्तुः अभिनव-मदलेखा-श्यामगण्ड स्थलानां वारणानाम् वारणम् न भवति।

प्रसङ्ग— ‘तत्त्वज्ञानी विद्वानों को तृणवत् लक्ष्मी वश में नहीं कर सकती’— इसी आशय को प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— परमार्थ तत्त्व को जानने वाले (ब्रह्म को आत्मसात करने वाले) विद्वानों का अपमान मत करो। तुच्छ तिनके के समान लक्ष्मी उनको रोक नहीं सकती। (जैसे) कमलनाल का सूत्र नवीन मद की धारा से गण्डस्थल वाले हाथियों का बन्धन नहीं होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार मदस्रावी हाथी को मृणाल वा कमलपुष्प के कोमल धागे से रोका नहीं जा सकता। अन्य शब्दों में, सामान्य हाथी इतना बलवान् होता है कि उसे बाँधने के लिए मोटी लोहे की जंजीरों की आवश्यकता पड़ती है और यदि विषय युवा हाथी का हो तो मदमत्त होने के कारण उसका बल दुगुना बढ़ जाता है। ऐसे हाथी को विसतन्तुओं से रोकना असम्भव एवं हास्यास्पद ही है। उसी प्रकार राजाओं को पुनः उद्बोधित करते हुए कवि कहता है कि जिन विद्वानों ने परमतत्त्व (ब्रह्म) का साक्षात्कार कर लिया है,

वे सभी मानवीय दुर्बलताओं काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि से विरक्त हो चुके होते हैं। लक्ष्मी जैसी तुच्छ वस्तु भी उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाती है, ऐसे विद्वज्जनों को राजाओं, धनी जनों से भी कोई अपेक्षा नहीं होती। ऐसे परमज्ञानी पण्डितों को धन और ऐश्वर्य का लालच देकर अपने वश में करना असम्भव एवं मूर्खतापूर्ण कार्य है। इसीलिए विद्वानों का कभी अपमान नहीं करना चाहिए।

- इस श्लोक में **मालिनी** छन्द है, जहाँ प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण, यगण इन 15 वर्णों का क्रम रहता है। लक्षण है—‘ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः’।
- (i) इस श्लोक में ‘वारणं वारणानाम्’ पदों में ‘व’, ‘र’, ‘म’ वर्णों की आवृत्ति है, अतः ‘वर्णसाम्यमनुप्रासः’ से अनुप्रास अलंकार है।
- (ii) ‘तृणमिव’ पद में साधारण धर्म की समानता होने से ‘साधर्म्यमुपमाभेदे’ से **उपमा** अलंकार भी है।
- (iii) लक्ष्मी द्वारा विद्यावान् जनों को वश में नहीं किया जा सकता, इसी नीतिकथन को मदस्रावी हाथी के उदाहरण द्वारा पुष्ट किया गया है। अतः **दृष्टान्त** अलंकार भी है। लक्षण है—‘दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्’।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

अभिनव-मदलेखा— उत्कृष्ट श्रेणी का हाथी जब युवावस्था में होता है तो उसकी कनपटी अथवा गण्डस्थल से एक सुगन्धित गाढ़ा चिपचिपा-सा द्रव्य पदार्थ बहता रहता है, जिसके कारण इसके गण्डस्थल श्याम (काले) वर्ण के हो जाते हैं। इसी को अभिनव-मदलेखा अथवा गजमद कहा जाता है।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	माऽवमंस्थास्तृणमिव	=	मा + अवमंस्थाः + तृणम् + इव
	लघुलक्ष्मीनैव	=	लघुलक्ष्मीः + न + एव
	विसतन्तुर्वारणम्	=	विसतन्तुः + वारणम्

कारक— वारणानां वारणम्—यहाँ ‘कर्तृकर्मणोः कृति’ सूत्रानुसार कृत् प्रत्ययान्त ‘वारण’ (बन्धन) क्रिया के कर्ता ‘वारण’ (हाथी) में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव,
हंसस्य हन्ति नितरां कृपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां,
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥19॥

अन्वय- नितरां कृपितः विधाता हंसस्य अम्भोजिनी वन-निवास-विलासम् एव हन्ति, तु असौ अस्य दुग्ध-जलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यं कीर्तिम् अपहर्तुम् समर्थः न (अस्ति)।

प्रसङ्ग- 'विद्वानों की विद्वत्ता का हरण ब्रह्मा भी नहीं कर सकते'- इसी कथन को हंस के दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

हिन्दी अनुवाद- अत्यन्त क्रोधित हुआ विधाता हंस के कमलवन में निवास करने के आनन्द को ही नष्ट कर सकता है, किन्तु वह उसके दूध से जल को अलग करने सम्बन्धी लोकप्रसिद्ध विवेक की निपुणता रूपी यश को छीनने में समर्थ नहीं है।

व्याख्या- ब्रह्मा का आसन कमल होता है तथा ब्रह्मा का वाहन हंस माना गया है। अब ब्रह्मा यदि किसी कारणवश अपने वाहन हंस पर अत्यधिक कुपित हो जाए तो अधिक-से-अधिक वह कमलों को नष्ट करके हंस के कमल-वन विहार को, उसके क्रीड़ा-आनन्द को कम कर सकता है अथवा उसे कमल-वन में जाने से रोक सकता है-इतना ही सामर्थ्य है। किन्तु ब्रह्मा हंस की नीरक्षीरविवेकिनी शक्ति को नष्ट करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् हंस में जो दूध और पानी को पृथक्-पृथक् करने का जो अपूर्व गुण है, जो विवेकशीलता, निपुणता है, वह जगत् प्रसिद्ध है। वह उससे कोई नहीं छीन सकता, स्वयं ब्रह्मा भी नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई अहंकारी एवं ऐश्वर्यशाली राजा किसी विद्वान् पर क्रोधित होकर भले ही उसकी आजीविका बन्द कर दे अथवा उसे अपने राज्य से ही निकाल दे, किन्तु वह राजा उस विद्वान् व्यक्ति की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, उसके सच्चे ज्ञान का अपहरण नहीं कर सकते। अपने विद्या के बल पर वे सर्वत्र सम्मान और यश प्राप्त करते हैं। अतः राजाओं का ऐसे विद्वज्जनों का विरोध करना उचित नहीं है।

- इस श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण, जगण तथा अन्त में दो गुरु-इन वर्णों का क्रम रहता है। लक्षण है-'**उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।**'
- इस श्लोक में अप्रस्तुत (विद्वान् की विद्वान् की विद्वत्ता/कवि की कवित्व कौशल) का कथन प्रस्तुत (हंस का दृष्टान्त) के द्वारा किया गया है, अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार है। लक्षण है-

क्वचित् विशेषसामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात्समम्॥

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

दुग्धजलभेदविधौ— हंस नीरक्षीरविवेकी कहलाता है, अर्थात् हंस पानी मिले दूध में से मात्र दूध को ग्रहण कर लेता है तथा पानी छोड़ देता है। हंस में दूध और जल को पृथक्-पृथक् करने की यह अद्भुत और प्रसिद्ध कुशलता है, जो वस्तुतः हंस का सहज, स्वाभाविक और जन्मजात गुण है। 'भामिनीविलास' में हंस विषयक उक्त गुण के विषय में उल्लेख है— 'नीरक्षीर-विवेक हंसालस्य त्वमेव तनुषे चेत्।'

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— विलामेव = विलासम् + एव
त्वस्य = तु + अस्य

कारक— दुग्धजलभेदविधौ—यहाँ दुग्ध से जल को अलग करने की 'विधि' इस पद में आधार की विवक्षा होने पर 'आधारोऽधिकरणम्' इस सूत्र से अधिकरण संज्ञा हुई। तदनन्तर यहाँ 'दूध से जल को अलग करने की विधि विषयक कुशलता' ऐसा अन्वयार्थ ग्रहण होने पर 'विधि' इस अधिकरण में 'विषय अर्थ' में 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्रानुसार सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। वस्तुतः आधार या अधिकरण तीन प्रकार का होता है—

1. औपश्लेषिक (संयोग-संबंधवाला), 2. वैषयिक (विषय में), 3. अभिव्यापक (व्यापक होकर रहना)। यहाँ उक्त पद में वैषयिक अर्थ में सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।

वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥20॥

अन्वय— पुरुषं न केयूराणि, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः, न स्नानं, न विलेपनं, न कुसुमं, न अलंकृताः मूर्धजाः भूषयन्ति, एका वाणी पुरुषं समलंकरोति याः संस्कृताः धार्यते, खलु (अखिल) भूषणानि क्षीयन्ते, वाग्भूषणं सततं भूषणं (भवति)।

प्रसङ्ग— 'वाणी रूपी आभूषण व्यक्ति का संस्कारित एवं स्थायी आभूषण है— इस अर्थ को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं—

हिन्दी अनुवाद— मनुष्य को न तो बाजूबन्द, न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार, न स्नान, न हल्दी-चन्दनादि का लेप, न फूलमाला धारण करना और न ही पुष्प आदि से सजे हुए बाल सुशोभित करते हैं। मनुष्य को केवल एकमात्र वाणी ही सुशोभित करती है, जो व्याकरणादि शास्त्रों से परिष्कृत हो, संस्कारित

हो। निश्चय ही अन्य सारे आभूषण तो नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वाणी रूपी आभूषण सदा सुरक्षित रहने वाला आभूषण है।

व्याख्या— संस्कृतनिष्ठ वाणी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि मनुष्य की शोभा बाजूबन्द आदि गहने धारण करने से नहीं बढ़ती, न ही चन्द्रमा की भाँति चमकने वाले पवित्र एवं बहुमूल्य हारादि को पहनने से सुन्दरता बढ़ती है। इसी प्रकार से स्नानादि करके हल्दी-चन्दन आदि का उबटन लगाना, इत्र-आदि सुगन्धित पदार्थ, शरीर पर फूलमालाएँ धारण करना, केश-सज्जा इत्यादि सभी बाहरी साधन मनुष्यमात्र की शोभा के प्रतीक नहीं बन सकते हैं। मनुष्य की शोभा केवल एकमात्र सुसंस्कृत वाणी से बढ़ती है। व्याकरणनिष्ठ शुद्ध वाणी ही विद्वानों की सभा में व्यक्ति के सम्मान का कारण बनती है। वस्तुतः सोने, चाँदी, बहुमूल्य रत्नों तथा फूलों से बने गहने क्षणिक एवं नाशवान् हैं। जो मनुष्य के स्थायी सौन्दर्य नहीं बन पाते। किन्तु शास्त्रज्ञान से परिष्कृत वाणी एक ऐसा अलंकरण है, जो न कभी क्षीण होता है और न ही नष्ट होता है, अपितु स्थायी रूप से शोभायमान होता है।

- इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।
- इस श्लोक में उपमान (हार आदि आभूषण) की अपेक्षा उपमेय (परिष्कृत वाणी) को श्रेष्ठ बताया गया है, अतः व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग है। जिसका लक्षण है— “उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।”

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

संस्कृता वाणी :- ऐसी वाणी जो व्याकरण आदि शास्त्रों की दृष्टि से शुद्ध, शिष्ट एवं परिमार्जित हो। परिष्कार के कारण ही वाणी में मधुरता, प्रियता और शालीनता आती है। स्वयं महाकवि कालिदास का कथन है— ‘संस्कारवत्येव गिरा मनीषीतया स पूतश्च विभूषितश्च।’ —कुमारसम्भव; 1/28

केयूराणि— केयूर एक आभूषण का नाम है, जिसे बाजूबन्द कहा जाता है। प्राचीन समय में भुजाओं अथवा बाजुओं के ऊपरी हिस्से के अलंकरण हेतु यह गहना पहना जाता था। अमरकोशकार ने भी यही अर्थ बताया है— ‘केयूरमङ्गदंतुल्ये’ इत्यमरः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि—	हारा न	=	हाराः + न
	चन्द्रोज्ज्वलाः	=	चन्द्र + उज्ज्वलाः
	नालंकृता	=	न + अलंकृताः
	वाण्येका	=	वाणी + एका
	वाग्भूषणम्	=	वाक् + भूषणम्

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः॥21॥

अन्वय- विद्या नाम नरस्य अधिकं रूपं (अस्ति), प्रच्छन्न गुप्तं धनम् (अस्ति), विद्या भोगकरी यश, सुखकरी (भवति), विद्या गुरुणां गुरुः (अस्ति) विदेशगमने विद्या बन्धुजनः (अस्ति), विद्या परं दैवतं, राजसु विद्या पूज्यते न हि धनम्। (अतः) विद्याविहीनः (नरः) पशुः (अस्ति)।

प्रसङ्ग- विद्या की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि कवि कहते हैं कि-

हिन्दी अनुवाद- विद्या वस्तुतः मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है, विद्या छिपा हुआ सुरक्षित धन है। विद्या सांसारिक भोग-विलास-ऐश्वर्य को देने वाली है। विद्या ही कीर्ति और सुख प्राप्त कराती है। विद्या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का उपदेश देने वाले गुरुओं की भी गुरु है। विदेश जाने पर विद्या ही बन्धु के समान सहायता करती है, विद्या सर्वश्रेष्ठ देवता है। राजाओं या राजसभाओं में विद्या की ही पूजा की जाती है, धन की नहीं। अतः विद्या से रहित मनुष्य पशु ही है।

व्याख्या- विद्या के गुणों का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं कि विद्या मनुष्य के लिए अप्रतिम सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य की शारीरिक सुन्दरता तो आयु के प्रभाव से मन्द पड़ जाती है या नष्ट हो जाती है, किन्तु विद्या द्वारा संस्कारित व्यक्ति की कान्ति कभी फीकी नहीं पड़ती। विद्या मनुष्य के हृदय में छिपा हुआ स्थायी एवं सुरक्षित धन है, अर्थात् विद्वान् की विद्वत्ता बहुत गूढ़ होती है, उसे आसानी से नहीं जाना जा सकता। विद्या ही मनुष्य को सांसारिक भोग-ऐश्वर्य से सम्पन्न बनाती है, उसे यशस्वी एवं सुखी भी बनाती है। कवि ने विद्या को गुरुओं की भी गुरु अर्थात् परम गुरु की संज्ञा दी है। चूँकि गुरु भी विद्या से ही ज्ञान रूपी रसपान करके शिष्यों को उपदेश देता है। विद्या के बल पर ही व्यक्ति विदेशों में जाकर भी सम्मान के पात्र बनते हैं। विदेश जाने पर विद्या ही सगे बन्धुओं की भाँति एकमात्र सहायिका होती है। इसके अतिरिक्त राज सभाओं में भी धनाढ्य व्यक्ति की अपेक्षा विद्वान् को ही सम्मान दिया जाता है। चूँकि यह सर्वविदित है कि विद्यायुक्त मनुष्य ही विवेकपूर्ण एवं विचारशील कर्म करने की क्षमता रखता है, विद्यारहित व्यक्ति एक प्रकार से पशु के समान ही है। भाव यह है कि विद्या हर प्रकार से मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। आचार्य चाणक्य ने तो विद्या को कामधेनु ही कह दिया-

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।

प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

-चाणक्यनीतिदर्पण; 4/5

- इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।
- इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलंकार प्रयुक्त हुआ है।

व्याख्यात्मक टिप्पणी—

बन्धुजन— बन्धुजन शब्द का सामान्य अर्थ है—भाई—बन्धु, रिश्तेदार अर्थात् जो व्यक्ति किसी प्रकार के सम्बन्ध से बँधा हो अथवा अपनी ही जाति विशेष, गोत्र विशेष से सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति, स्वजन। मित्रतापूर्ण व्यवहार करने वाला अथवा सेवा करने वाला व्यक्ति भी बन्धुजन ही कहलाता है। यथा—
'कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे' (मेघ. 114)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी—

सन्धि— रूपमधिकम् = रूपम् + अधिकम्

बन्धुजनो विदेशगमने = बन्धुजनः + विदेशगमने

कारक— गुरुणां गुरुः—'यतश्च निर्धारणम्' इस सूत्र के अनुसार 'निर्धारण अर्थ में' ये प्रयुक्त 'गुरुणाम्' पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

राजसु — यद्यपि यहाँ 'राजसु पुजिता' इस पाठ के स्थान पर 'राजभिः पूजिताः' होना चाहिए। परन्तु 'सप्तम्यधिकणे' इस सूत्र के अनुसार अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण 'राजसु' पद में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।